

# जैनदर्शन में तत्त्व मीमांसा

युवाचार्य महाप्रज्ञ



प्रकाशक

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनू

# जैन दर्शन में तत्त्व मीमांसा

युवाचार्य महाप्रज्ञ



प्रकाशक

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक  
मुनि दुलहराज

पंचम संस्करण : जुलाई, १९९३

---

मूल्य : दस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राजस्थान)/  
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्व  
भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६।

---

**JAIN DARSHAN MEIN TATTVA-MIMANSA**  
**Yuvacharya Mahaprajna**

**Rs. 10.00**

---

## सम्पादकीय

युवाचार्य महाप्रज्ञ की बहुचर्चित पुस्तक 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' के पांच खण्ड हैं। उसका दूसरा खण्ड है—'दर्शन'। उस खण्ड के आधार पर कुछेक विषयों के विस्तार और टिप्पणों को छोड़ कर प्रस्तुत पुस्तक 'जैनदर्शन में तत्त्व-मीमांसा' तैयार की गई है। यह विद्यार्थियों के ज्ञानवर्धन में सहायक होगी, इसी आशा के साथ।

—सम्पादक



## विषयानुक्रम

१. विश्व : विकास और ह्रास	१—२०
अनादि अनन्त	१
विश्व-स्थिति के मूल सूत्र	१
विकास और ह्रास	२
विकास और ह्रास का कारण	४
प्राणि-विभाग	५
उत्पत्ति-स्थान	६
स्थावर जगत्	७
संघीय जीवन	११
साधारण-वनस्पति जीवों का परिमाण	१२
प्रत्येक वनस्पति	१२
प्रत्येक-वनस्पति जीवों का परिमाण	१२
क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र	१२
शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उलटा क्रम	१७
प्रभाव के निमित्त	१७
२. जीवन-निर्माण	२१—३२
संसार का हेतु	२१
सूक्ष्म शरीर	२१
गर्भ	२२
गर्भाधान की कृत्रिम पद्धति	२३
गर्भ की स्थिति	२३
गर्भ-संख्या	२३
गर्भ प्रवेश की स्थिति	२४
बाहरी स्थिति का प्रभाव	२४
जन्म के प्रारंभ में	२४
जन्म	२५
प्राण और पर्याप्ति	२६
प्राण-शक्ति	२६
जीवों के चौदह भेद और उनका आधार	२७

इन्द्रिय-ज्ञान और पांच जातियां	१२८
मानस-ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी	२९
इन्द्रिय और मन	३०
जातिस्मृति	३१
अतीन्द्रियज्ञान—योगीज्ञान	३१

### ३. आत्मवाद ३३—६८

दो प्रवाह : आत्मवाद और अनात्मवाद	३३
आत्मा क्यों ?	३७
भारतीय दर्शन में आत्मा के साधक तर्क	३७
जैन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप	४२
भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप	४४
औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन दृष्टि से तुलना	४६
सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण	४७
जीव के व्यावहारिक लक्षण	४७
जीव के नैश्चयिक लक्षण	४९
मध्यम और विराट् परिमाण	४९
बद्ध और मुक्त	५०
जीव-परिमाण	५१
शरीर और आत्मा	५२
मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव	५४
दो विसदृश पदार्थों का संबंध	५५
विज्ञान आत्मा	५५
आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग	५७
चेतना का पूर्व रूप क्या है ?	५९
इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं	६०
प्रदेश और जीवकोष	६१
अस्तित्व सिद्धि के दो प्रकार	६१
स्वतंत्र सत्ता का हेतु	६३
पुनर्जन्म	६३
अंतरकाल	६५
स्व-नियमन	६७

### ४. कर्मवाद ६६—६६

कर्म	६९
------	----

आत्मा का आंतरिक वातावरण	७०
परिस्थिति	७१
कर्म की पौद्गलिकता	७१
आत्मा और कर्म का संबंध	७३
बंध के हेतु	७३
बंध	७४
कर्म : स्वरूप और कार्य	७५
बन्ध की प्रक्रिया	७६
कर्म कौन बांधता है ?	७७
कर्म-बंध कैसे ?	७८
फल-विपाक	७८
कर्म के उदय से क्या होता है ?	७९
फल की प्रक्रिया	८१
उदय	८१
अपने-आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु	८३
दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म-हेतु	८३
पुण्य-पाप	८४
मिश्रण नहीं होता	८६
कोरा पुण्य	८६
धर्म और पुण्य	८६
पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है	८८
आत्मा स्वतंत्र है या कर्म के अधीन ?	८९
उदीरणा	९०
उदीरणा का हेतु	९१
वेदना	९२
निर्जरा	९३
कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया	९५
अनादि का अन्त कैसे ?	९५
लेश्या	९६
कर्मा का संयोग और वियोग : आध्यात्मिक विकास और ह्रास	९८





## अनादि-अनन्त

जीवन-प्रवाह के बारे में अनेक धारणाएं हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सान्त। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनन्त मानने वालों को उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ—ये समस्याएं उन्हें सताती हैं जो असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते। नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नहीं चाहिए, अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है।

## विश्व-स्थिति के मूल सूत्र

विश्व-स्थिति की आधारभूत दस बातें हैं :—

१. पुनर्जन्म—जीव मर कर बार-बार जन्म लेते हैं।
२. कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बांधते हैं।
३. मोहनीय-कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।
४. जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।
५. त्रस स्थावर-अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएं या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएं या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएं।
६. लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और

न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए ।

७. लोकालोक-अन्योन्याऽप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे ।

८. लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है ।

९. लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं ।

१०. अलोक-गति-कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आबद्ध पार्श्वस्पृष्ट पुद्गल हैं । लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं । वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते । उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते ।

## विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं । एकान्त-नित्य-स्थिति में न विकास हो सकता है और न ह्रास । परिणामी-नित्यत्व के अनुसार ये दोनों हो सकते हैं । डाविन के मतानुसार यह विश्व क्रमशः विकास की ओर बढ़ रहा है । जैन-दृष्टि इसे स्वीकार नहीं करती । विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में होता है । जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा । यहां पहुंचने पर फिर ह्रास नहीं होता । इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाएं हैं, उनमें आठवीं (क्षपकश्रेणी) भूमिका पर पहुंचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है । इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनों चलते हैं । कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है । विकास-दशाएं ये हैं :

१. अव्यवहार राशि...साधारण-वनस्पति ।

२. व्यवहार राशि...प्रत्येक-वनस्पति, साधारण-वनस्पति ।

(क) एकेन्द्रिय ...साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु ।

(ख) द्वीन्द्रिय ।

(ग) त्रीन्द्रिय ।

(घ) चतुरिन्द्रिय ।

(ङ) पंचेन्द्रिय....अमनस्क, समनस्क ।

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमशः पार करके आगे बढ़ता है, यह बात नहीं। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियों की योग्यता का क्रम है, उत्क्रांति का क्रम नहीं। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवों की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियों के समन्वय पर निर्भर है।

दार्शनिकों का 'ध्येयवाद' भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिकों का 'विकासवाद' अतीत को। ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है। किंतु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा है। आत्मा स्वतः स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढ़ने के लिए बाध्य नहीं, स्वतंत्र है। ध्येय की उचित रीति समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किंतु 'ध्येय की ओर प्रगति' का यह सर्वसामान्य नियम नहीं है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेष सामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है। अतीत की अपेक्षा से विकास की परंपरा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्हीं का विकास हुआ है तो किन्हीं का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नयी आकृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपों को अपनी गोद में समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतंत्रता मान्य नहीं हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से बाहर वाली शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतंत्र नहीं हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नहीं साध सकती।

पुद्गल की शक्तियों का विकास और ह्रास—ये दोनों सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नहीं है। शक्ति की दृष्टि से एक पौद्गलिक स्कंध में अनन्त-गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर

अनन्तप्रदेशी स्कंध बन जाता है, और फिर वे बिखरकर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नहीं होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है। उसमें चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास-ह्रास में बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आंतरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत संश्लेष होता है, इसलिए आंतरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते हैं—आत्म-जनित और शरीर-जनित।

आत्म-जनित आंतरिक प्रेरणा में आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित में शारीरिक विकास।

शरीर पांच है। उनमें दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाएँ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। शुभ वर्गणाओं के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओं के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतन और अचेतन—पुद्गल संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नहीं है।

### विकास और ह्रास के कारण

विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आंतरिक प्रेरणा या आंतरिक स्थिति या आंतरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। डार्विन का सिद्धांत बाहरी स्थिति को अनुचित महत्त्व देता है। बाहरी स्थितियाँ केवल आंतरिक वृत्तियों को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नहीं करती। चेतन में योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा या विकसित हो जाती है।

१. अंतरंग योग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
२. अंतरंग अयोग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
३. अंतरंग योग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

४. अंतरंग अयोग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता ।

प्रत्येक प्राणी में दस संज्ञाएं और जीवन-सुख की आकांक्षाएं होती हैं । उनमें तीन एषणाएं भी होती हैं—

१. प्राणैषणा—मैं जीवित रहूं ।

२. पुत्रैषणा—मेरी संतति चले ।

३. वित्तैषणा—मैं धनी बनूं ।

अर्थ और काम की इस आंतरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियों के प्रभाव से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियों का विकास होता है । यह एक जीवनगत-विकास की स्थिति है । विकास का प्रवाह भी चलता है । एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढ़ी को अनायास मिल जाता है । किंतु उद्भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक जो विकास है, वह पहली पीढ़ी के विकास की देन नहीं है । यह व्यक्ति-विकास की स्वतंत्र गति है । उद्भिद्-जगत् से भिन्न जातियां उसकी शाखाएं नहीं, किन्तु स्वतन्त्र हैं । उद्भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के माध्यम से मनुष्य बन सकता है । यह जातिगत विकास नहीं, व्यक्तिगत विकास है ।

विकास होता है, इसमें दोनों विचार एक रेखा पर हैं । किंतु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है । डार्विन के मतानुसार विकास जाति का होता है और जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति का । डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नहीं जाता । आंतरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है ।

### प्राणि-विभाग

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर । अचर प्राणी पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय, अष्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं—१. अंडज, २. पोतज, ३. जरायुज, ४. रसज, ५. संस्वेदज, ६. सम्पूच्छिम, ७. उद्भिद्, ८. उपपातज ।

१. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—सांप, केंचुआ, मच्छ, कबूतर, हंस, काक, मोर आदि जंतु।

२. पोतज—जो जीव खुले अंग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुला, आदि।

३. जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एवं मांस से लथड़ा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस, ऊंट, घोड़ा, मृग, सिंह, रीछ, कुत्ता, बिल्ली आदि।

४. रसज—मद्य आदि में जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।

५. संस्वेदज—संस्वेद में उत्पन्न होनेवाले संस्वेदज कहलाते हैं। जैसे—जूं आदि।

६. सम्मूर्च्छिम—किसी संयोग की प्रधानतया अपेक्षा नहीं रखते हुए यत्र-कुत्र जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। जैसे—चींटी, मक्खी आदि।

७. उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिड्डी आदि।

८. उपपातज—शय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारक आदि।

### उत्पत्ति-स्थान

सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं और वहीं स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में रहते हैं, शरीर में वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते हैं। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं।

प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख हैं और उनके कुल एक करोड़ साढ़े सत्तानवे लाख (१,६७,५०,०००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर एकही योनि है और उसमें कृमि-

कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं ।

स्थान	उत्पत्ति-स्थान	कुल-कोटि
१. पृथ्वीकाय	७ लाख	१२ लाख
२. अप्काय	७ लाख	७ लाख
३. तेजस्काय	७ लाख	७ लाख
४. वायुकाय	७ लाख	७ लाख
५. वनस्पतिकाय	२४ लाख	२८ लाख
६. द्वीन्द्रिय	२ लाख	७ लाख
७. त्रीन्द्रिय	२ लाख	८ लाख
८. चतुरिन्द्रिय	२ लाख	९ लाख
९. त्रियेञ्च पंचेन्द्रिय	४ लाख	जलचर—१२½ लाख खेचर—१२ लाख स्थलचर—१० लाख उर-परिसर्प—९ लाख भुज-परिसर्प—९ लाख
१०. मनुष्य	१४ लाख	१२ लाख
११. नारक	४ लाख	२५ लाख
१२. देव	४ लाख	२७ लाख

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल-कोटि के अध्यय से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं भिन्नता का होना असम्भव नहीं ।

### स्थावर-जगत्

उक्त प्राणी-विभाग जन्म-प्रक्रिया की दृष्टि से है । गति की दृष्टि से प्राणी दो भागों में विभक्त होते हैं—स्थावर और त्रस । त्रस जीवों में गति, अगति, भाषा, इच्छा-व्यक्तिकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता में कोई सन्देह नहीं होता । स्थावर जीवों में जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नहीं है । जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पांचों स्थावर काय सजीव हैं । इसका आधारभूत सिद्धांत यह है—हमें जितने पुद्गल दीखते हैं, ये सब जीवत्-शरीर या जीव-मुक्त शरीर हैं । जिन पुद्गल-स्कंधों को जीव अपने शरीर-रूप में परिणत



कर लेते हैं, उन्हीं को हम देख सकते हैं, दूसरों को नहीं। पांच-स्थावर के रूप में परिणत पुद्गल दृश्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि ये सजीव हैं। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल में सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ में सजीव हो होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्मा-रहित हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं।

इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुलनात्मक युक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

१. मनुष्य-शरीर में समानजातीय मांसांकुर पैदा होते हैं। इसलिए वह सजीव है।

२. अंडे का प्रवाही रस सजीव होता है। पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है। मूत्र आदि तरल पदार्थ शस्त्र परिणत होते हैं, इसलिए वे निर्जीव होते हैं।

३. जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला ताप जीव-संयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-संयोगी है। आहार के भाव और अभाव में होनेवाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनों का जीवन वायु-सापेक्ष है। वायु के बिना मनुष्य नहीं जीता, वैसे अग्नि भी नहीं जीती। मनुष्य में जैसे प्राणवायु का ग्रहण और विषवायु का उत्सर्ग होता है, वैसे अग्नि में भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भांति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-संयोगी है। सूर्य 'आतप' नामकर्मोदययुक्त पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर-पिण्ड है।

४. वायु में व्यक्त प्राणी की भांति अनियमित स्वप्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल पुद्गल स्कंधों में अनियमित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वयं नहीं।

ये चार जीव निकाय हैं। इनमें से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं। मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, पानी की एक बूंद, अग्नि का एक कण, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असंख्य जीवों के असंख्य

शरीरों के पिंड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति-सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नहीं बनता। हम इनके पिण्डीभूत असंख्य शरीरों को ही देख सकते हैं।

५. वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायों से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आए हैं और वैज्ञानिक जगत् में भी इसके चैतन्य संबंधी विविध परीक्षण हुए हैं। बेतार की तरंगों (wireless waves) के बारे में अन्वेषण करते समय जगदीशचंद्र वसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणु पर भी अधिक दबाव पड़ने से रुकावट आती है और उन्हें फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानबीन के बाद बताया कि धान्य आदि पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे में मस्त होते हैं और मरते हैं। अन्त में उन्होंने यह प्रमाणित किया कि संसार के सभी पदार्थ सचेतन हैं।

वेदान्त की भाषा में सभी पदार्थों में एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है।

जैन की भाषा में समूचा संसार अनन्त जीवों से व्याप्त है। एक अणुमात्र प्रदेश भी जीवों से खाली नहीं है।

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य-शरीर जाति-(जन्म) धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है। जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक तथा वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य शरीर आहार करने वाला है, वैसे ही वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर में भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमन-युक्त है अर्थात् रोगों के सम्पर्क से पाण्डुत्व, वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से क्रान्ति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है वैसे

वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा-विहीन हो जाता है और औषधि के संयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अतः वनस्पति चेतनायुक्त है।

वनस्पति के जीवों में अव्यक्त रूप से दस संज्ञाएं होती हैं। संज्ञा का अर्थ है—अनुभव। दस संज्ञाएं ये हैं—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान-संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ-संज्ञा, ओघ-संज्ञा एवं लोक-संज्ञा। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आसपास होनेवाले वृक्षों का सार खींच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती है, इसलिए वनस्पति में भय-संज्ञा होती है। 'कुरुबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादाघात से प्रमुदित हो जाता है, इसलिए वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताएं अपने तंतुओं से वृक्ष को बीट लेती हैं, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिदती' नाम की बेल मान से भरने लग जाती है। लताएं अपने फलों को माया से ढांक लेती हैं। बिल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी हैं। लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा<sup>१</sup> है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा<sup>२</sup> है।

वृक्षों में जलादि सींचते हैं, वह फलादि के रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास का सद्भाव है। स्नायविक धड़कनों के बिना रस का प्रसार नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य-शरीर में उच्छ्वास से रक्त का प्रसार होता है और मृत-शरीर में उच्छ्वास नहीं होता, अतः रक्त का प्रसार भी नहीं होता, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास है। इस प्रकार अनेक युक्तियों से वनस्पति

१. ओघ-संज्ञा—अनुकरण की प्रवृत्ति।

२. लोक-संज्ञा—व्यक्त चेतना का विशेष उपयोग।

की सचेतनता सिद्ध की गई है।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, वह साधारण-शरीरी, अनन्त-काय या सूक्ष्म-निगोद है। एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

### संघीय जीवन

साधारण-वनस्पति का जीवन संघ-बद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गंवाता। उन एक शरीरश्रयी अनन्त जीवों के सूक्ष्म शरीर तैजस और कर्मण पृथक्-पृथक् होते हैं। उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नहीं होता। उनके साम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया कि—“साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपभोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं। उनके आहार-विहार, उच्छ्वास-निश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं। साधारण जीवों का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीरी मनुष्यों के कृत्रिम संघों में ऐसी साधारणता कभी नहीं आती। साधारण जीवों का स्वाभाविक संघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्गलिक वस्तुएं ही करती हैं। साधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सूई के अग्रभाग जितने छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं।

सूई की नोक टिके उतने ‘लक्ष्यपाक’ तेल में एक लाख औषधियों की अस्तित्व होती है। सब औषधियों के परमाणु उसमें मिले हुए होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान में देखिए—

रसायनशास्त्र के पंडित कहते हैं कि आलपिन के सिर के बराबर बर्फ के टुकड़े में १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक

शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति शरीर जीवमय होता है।

### साधारण-वनस्पति जीवों का परिमाण

लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश-प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक में नहीं समायेंगे, दो-चार में भी नहीं। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे। इस काल्पनिक संख्या से उनका परिमाण समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति संकीर्ण होती है। इसी कारण ससीम लोक में समा रहे हैं।

### प्रत्येक वनस्पति

प्रत्येक-वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने शरीर का निर्माण स्वयं करता है। उनमें पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय में असंख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज में एक जीव होता है। उसके आश्रय में पत्र, पुष्प और फूल के असंख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव संघातरूप में रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसों के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक रूप बन जाते हैं। तब भी उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक-वनस्पति के शरीरों की भी यही बात है। शरीर की संघात-दशा में भी उनकी सत्ता स्वतंत्र रहती है।

### प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण

साधारण-वनस्पति जीवों की भांति प्रत्येक-वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असंख्य लोक बन जाएं। यह लोक असंख्य आकाश-प्रदेश वाला है, ऐसे असंख्य लोकों के जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने प्रत्येक-शरीरी वनस्पति जीव हैं।

### क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र

डार्विन का सिद्धांत चार मान्यताओं पर आधारित है—

१. पितृ नियम—समान में से समान संतति की उत्पत्ति।
२. परिवर्तन का नियम—निश्चित दशा में सदा परिवर्तन

होता है, किन्तु वह उसके विरुद्ध नहीं होता। वह (परिवर्तन) सदा आगे बढ़ता है, पीछे नहीं हटता। उससे उन्नति होती है, अवनति नहीं होती।

३. अधिक उत्पत्ति का नियम—यह जीवन-संग्राम का नियम है। अधिक होते हैं, वहां परस्पर संघर्ष होते हैं। यह अस्तित्व को बनाये रखने की लड़ाई है।

४. योग्य विजय—अस्तित्व की लड़ाई में जो योग्य होता है, विजय उसी के हाथ में आती है। स्वाभाविक चुनाव में योग्य को ही अवसर मिलता है।

प्रकारान्तर से इसका वर्गीकरण यों भी हो सकता है—

१. स्वतः परिवर्तन।

२. वंश-परम्परा द्वारा अगली पीढ़ी में परिवर्तन।

३. जीवन-संघर्ष में योग्यतम का शेष रहना।

इसके अनुसार पिता-माता के अर्जित गुण संतान में संक्रांत होते हैं। वे ही गुण वंशानुक्रम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे उपस्थित होकर सुदीर्घ काल में सुस्पष्ट आकार धारण करके एक जाति से दूसरी अभिनव जाति उत्पन्न कर देते हैं।

डार्विन के मतानुसार पिता-माता के प्रत्येक अंग से सूक्ष्मकला या अवयव निकलकर शुक्र और शोणित में संचित होते हैं। शुक्र और शोणित से संतान का शरीर बनता है। अतएव पिता-माता के उपाजित गुण संतान में संक्रांत होते हैं।

इसमें सत्यांश है, किन्तु वस्तुस्थित का यथार्थ चित्रण नहीं। एक संतति में स्वतः बुद्धिगम्य कारणों के बिना भी परिवर्तन होता है। उस पर माता-पिता का भी प्रभाव पड़ता है। जीवन-संग्राम में योग्यतम विजयी होता है, यह सच है, किन्तु यह अधिक सच है कि परिवर्तन की भी एक सीमा है। वह समानजातीय होता है, विजातीय नहीं। द्रव्य की सत्ता का अतिक्रम नहीं होता, मौलिक गुणों का नाश नहीं होता।

विकास या नयी जाति उत्पन्न होने का अर्थ है कि स्थितियों में परिवर्तन हो, वह हो सकता है। किन्तु तिर्यञ्च, पशु, पक्षी या जल-जंतु आदि से मनुष्य-जाति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्राणियों की मौलिक जातियां पांच हैं। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नहीं, स्वतंत्र हैं। पांच जातियां योग्यता की दृष्टि से क्रमशः

विकसित हैं। किंतु पूर्व-योग्यता से उत्तर-योग्यता सृष्ट या विकसित हुई, ऐसा नहीं। पंचेन्द्रिय प्राणी की देह से पंचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पंचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना, यह गर्भज प्राणियों की निश्चित मर्यादा है।

विकासवाद जाति-विकास नहीं, किंतु जाति-विपर्यास मानता है। उसके अनुसार इस विश्व में कुछ विशुद्ध तत्त्व पदार्थ चारों ओर भरे पड़े थे, जिनकी गति और उष्णता में क्रमशः कमी होते हुए, बाद में उनमें से सर्व ग्रहों और हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार जैसे-जैसे हमारी यह पृथ्वी ठंडी होने लगी, वैसे-वैसे इस वायु-जलादि की उत्पत्ति हुई और उसके बाद वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उद्भिद्-राज्य हुआ। उससे जीव-राज्य हुआ। जीव-राज्य का विकासक्रम इस प्रकार माना जाता है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बन्दर और मनुष्य हुए।

डार्विन के इस विलम्बित 'क्रम-विकास-प्रसरणवाद' को विख्यात प्राणी तत्त्ववेत्ता डी० ब्राइस ने सांध्य—प्रिमरोज (इस पेड़ का थोड़ा-सा चारा हॉलैण्ड से लाया जाकर अन्य देशों की मिट्टी में लगाया गया। इससे अकस्मात् दो नयी श्रेणियों का उदय हुआ) के उदाहरण से असिद्ध ठहराकर 'प्लुतसञ्चारवाद' को मान्य ठहराया है, जिसका अर्थ है कि एक जाति से दूसरी उपजाति का जन्म आकस्मिक होता है, क्रमिक नहीं।

विज्ञान का सृष्टि-क्रम असत् से सत् (उत्पादवाद या अहेतुक-वाद) है। यह विश्व कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ, इसका आनुमानिक कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। डार्विन ने सिर्फ शारीरिक विवर्तन के आधार पर क्रम-विकास का सिद्धांत स्थिर किया। शारीरिक विवर्तन में वर्णभेद, संहनन (अस्थि-रचना) भेद, संस्थान (आकृति-रचना) भेद, लम्बाई-चौड़ाई का तारतम्य, ऐसे-ऐसे और भी सूक्ष्म-स्थूल भेद हो सकते हैं। ये पहले भी हुआ करते थे और आज भी होते हैं। ये देश, काल, परिस्थिति के भेद से किसी विशेष प्रयोग के बिना भी हो सकते

है। और विशेष प्रयोग के द्वारा भी। १६७१ ई० में भेड़ों के भुण्ड में अकस्मात् एक नयी जाति उत्पन्न हो गई। उन्हें आजकल 'अनेकन' भेड़ कहा जाता है। यह जाति-मर्यादा के अनुकूल परिवर्तन है जो यदा-कदा यत्किंचित् सामग्री से हुआ करता है। प्रायोगिक परिवर्तन के नित-नये उदाहरण विज्ञान जगत् प्रस्तुत करता ही रहता है।

अभिनव जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक जाति में अनेक व्यक्ति प्राप्त भिन्नताओं की बहुलता के आधार पर स्वीकृत हुआ है। उत्पत्ति-स्थान और कुलकोटि की भिन्नता से प्रत्येक जाति में भेद-बाहुल्य होता है। उन अवांतर भेदों के आधार पर मौलिक जाति की सृष्टि नहीं होती। एक जाति उससे मौलिक भेद वाली जाति को जन्म देने में समर्थ नहीं होती। जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है, वह उस जाति में प्राप्त गुणों का विकास कर सकता है। जाति के विभाजक नियमों का अतिक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव स्व-अर्जित कर्म-पुद्गलों को प्रेरणा से जिस जाति में जन्म लेता है, उसी (जाति) के आधार पर उसके शरीर-संहनन, संस्थान, ज्ञान आदि का निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

बाहरी स्थितियों का प्राणियों पर प्रभाव होता है। किंतु उनकी आनुवंशिकता में वे परिवर्तन नहीं ला सकतीं। प्रो० डालिगटन के अनुसार—“जीवों की बाहरी परिस्थितियां प्रत्यक्ष रूप से उनके विकास-क्रम को पूर्णतया निश्चित नहीं करतीं। इससे यह साबित हुआ कि मार्क्स ने अपने और डार्विन के मतों में जो समानांतरता पायी थी, वह बहुत स्थायी और दूरगामी नहीं थी। विभिन्न स्वभावों वाले मानव प्राणियों के शरीर में बाह्य और आंतरिक भौतिक-प्रभेद मौजूद होते हैं। उनके भीतर के भौतिक-प्रभेद के आधार को ही आनुवंशिक या जन्मजात कहा जाता है। इस भौतिक आंतरिक प्रभेद के आधारों का भेद ही व्यक्तियों, जातियों और वर्गों के भेदों का कारण होता है। ये सब भेद बाहरी अवयवों में होने वाले परिवर्तनों के ही परिणाम हैं। इन्हें जीवधारी देह के पहलुओं के सिवाय बाहरी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। आनुवंशिकता के इस असर को अच्छे भोजन, शिक्षा अथवा सरकार के किसी भी कार्य से चाहे वह कितना ही उदार या क्रूर क्यों न हो,



सुधार या उन्नत करना कठिन है। आनुवंशिकता के प्रभाव को इस नये आविष्कार के बाद 'जेनेटिक्स का विज्ञान' कहा गया।

हमें दो श्रेणी के प्राणी दिखाई देते हैं। एक श्रेणी के गर्भज हैं, जो माता-पिता के शोणित, रज और शुक्र-बिन्दु के मेल से उत्पन्न होते हैं। दूसरी श्रेणी के सम्मूर्च्छिम हैं जो गर्भाधान के बिना स्व-अनुकूल सामग्री के सान्निध्य-मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं। इन दोनों (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय) की दो जातियां हैं—

(१) तिर्यञ्च, (२) मनुष्य<sup>१</sup>।

तिर्यञ्च जाति के मुख्य प्रकार तीन हैं—

१. जलचर—मत्स्य आदि।

२. स्थलचर—गाय, भैंस आदि।

(क) उरपरिसर्प—रेंगने वाले प्राणी—सांप आदि।

(ख) भुजपरिसर्प—भुजा के बल पर चलने वाले प्राणी—नेवला आदि।

३. खेचर—पक्षी।

सम्मूर्च्छिम जीवों का जाति-विभाग गर्भ-व्युत्क्रांत जीवों के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और संबद्ध नहीं होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवों की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति-विकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नहीं। सेव के वृक्ष की लगभग दो हजार जातियां मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देशों की मिट्टी में बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों के रूप में परिणत होता है। उनके फूलों और फलों में वर्ण, गंध, रस आदि का अंतर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृक्षों में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देश में मनुष्य का रंग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश में श्याम। यह परिवर्तन मौलिक नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों के

---

१. मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि-स्थान में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं।

द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। मौलिक परिवर्तन प्रयोग-सिद्ध नहीं हैं। इसलिए जातिगत औपचारिक परिवर्तन के आधार पर क्रम-विकास की धारणा मूल्यवान् नहीं बन सकती।

### शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपाश्विक वातावरण या बाहरी स्थितियों के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उनके बदलने पर ह्रास या पूर्व-गति भी होती है।

इस दिशा में सबसे आश्चर्यजनक प्रयोग है—म्यूनिख की जंतुशाला के डाइरेक्टर श्री हिंजहेक के, जिन्होंने विकासवाद की गाड़ी ही आगे से पीछे की ओर ढकेल दी है और ऐसे घोड़े पैदा किये हैं, जैसे कि पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व होते थे। प्रागैतिहासिक युग के इन घोड़ों को इतिहासकार 'टरपन' कहते हैं।

इससे जाना जाता है कि शरीर, संहनन, संस्थान और रंग का परिवर्तन होता है। उससे एक जाति के अनेक रूप बन जाते हैं, किन्तु मूलभूत जाति नहीं बदलती।

दो जाति के प्राणियों के संगम से तीसरी एक नयी जाति पैदा होती है। उस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियिक और मानसिक शक्ति का भेद उनमें नहीं होता। जाति-भेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास। इन्द्रियां, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ में 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। आकृति-भेद की समस्या जाति-भेद में मौलिक नहीं है।

### प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का और ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके जो निमित्त हैं, उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो मान लें—

शरीर और बुद्धि । ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं ।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का एक संयुक्त रूप होता है । प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं ।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का । बाहरी स्थितियां स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियों को ।

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओं का होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओं का ।

१. आनुवंशिक समानता का कारण है—वर्गणा का साम्य । जन्म के आरंभ काल में जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है । वे वर्गणाएं मातृ-पितृ सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है । सन्तान के शरीर में १. मांस, २. रक्त और ३. मस्तुलुंग, (भेजा) —ये तीन अंग माता के और १. हाड़, २. मज्जा और ३. केश-दाढ़ी, रोम और नख —ये तीन अंग पिता के होते हैं । वर्गणाओं का साम्य होने पर भी आंतरिक योग्यता समान नहीं होती । इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव योग्यता भिन्न भी होती है । यही कारण है कि माता-पिता के गुण-दोषों का संतान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना बुद्धि पर नहीं पड़ता ।

२ वातावरण भी पौद्गलिक होता है । पुद्गल पुद्गल पर असर डालते हैं । शरीर, भाषा और मन वर्गणाओं के अनुकूल वातावरण की वर्गणाएं होती हैं, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा में प्रतिकूल । आत्मिक शक्ति विशेष जागृत हो तो इसमें अपवाद भी हो सकता है । मानसिक शक्ति वर्गणाओं में परिवर्तन ला सकती है । कहा भी है—

“चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति ।

तस्मान्निवृत्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे बुद्धयो याति नाशम् ॥”

—यह धातुबद्ध शरीर चित्त के अधीन है । स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है । इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए ।

चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओं को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाएं शरीर पर भी बुरा असर नहीं डाल सकतीं ।

३. खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है । इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न वर्गणाएं हैं । वर्गणाओं के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है । एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार अनुभव करते हैं । यह उनका बुद्धि दोष या अनुभव शक्ति का दोष नहीं, किंतु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाएं हैं । अलग-अलग परिस्थिति में एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पड़ता है ।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवों पर असर होता है । शरीर के अवयव इन्द्रिय, मन और भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव की प्रवृत्ति के ये भी परस्पर कारण बनते हैं । ये बाहरी वर्गणाएं आंतरिक योग्यता को सुधार या बिगाड़ नहीं सकतीं और न बढ़ा-घटा भी सकती हैं । किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओं में सुधार या बिगाड़ ला सकती हैं । यह स्थिति दोनों प्रकार की वर्गणाओं के बलाबल पर निर्भर है ।

४. ग्रह-उपग्रह से जो रश्मियां निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओं के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है । विभिन्न रंगों के शीशों द्वारा सूर्य रश्मियों को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रक्रियाएं होती हैं । संगठित दशा में हमें तत्काल उनका असर मालूम पड़ता है । असंगठित दशा और सूक्ष्म रूप में उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड़ नहीं सकते ।

ज्योतिर्विद्या में उल्का की और योग विद्या में विविध रंगों की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियों के प्रभाव से होती है ।

यह बाहरी असर है । अपनी आंतरिक वृत्तियों का भी अपने पर प्रभाव पड़ता है । ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चंचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है । मन की चंचलता

से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसलिए आत्म-विकास में मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का बड़ा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाएं गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा में अनुकूल वर्गणाएं अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाएं समूचे लोक में भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

### संसार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा का नाम संसार है। संसार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग-द्वेष हैं। जीव की असंयममय प्रवृत्ति राग-मूलक या द्वेषमूलक होती है। उसे समझा जा सके या नहीं, यह दूसरी बात है। जीव को फंसानेवाला दूसरा कोई नहीं। जीव भी कर्म-जाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वांछा से रच लेता है। कर्म व्यक्ति रूप से अनादि नहीं है, प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म का प्रवाह कब से चला, इसकी आदि नहीं है। जब से जीव है तब से कर्म है। दोनों अनादि हैं। अनादि का आरम्भ न होता है और न बताया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा सब कर्मों की निश्चित अवधि होती है। परिपाक-काल के बाद वे जीव से विलग हो जाते हैं। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। आत्म-संयम से नये कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीण हो जाते हैं; नये कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधकों की है। आत्म-साधना से विमुख रहने वाले नये-नये कर्मों का संचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह में बहना पड़ता है।

### सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। तैजस शरीर तैजस परमाणुओं से बना हुआ विद्युत् शरीर है। इससे स्थूल शरीर में सक्रियता, पाचन, दीप्ति और तेज बना रहता है। कार्मण शरीर सुख-दुःख के निमित्त बनने वाले कर्म-अणुओं के समूह से बनता है। यही शेष सब शरीरों के जन्म-मरण की परंपरा का मूल कारण होता है। इससे छुटकारा पाए बिना जीव अपनी असली दशा में नहीं पहुंच पाता।

## गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे में छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ' हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के बाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है, वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनों के बारे में विवाद है। गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनों तक चलता है इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के आरंभ का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता, इसलिए प्रारंभिक दशा का प्रतिनिधि शब्द और चुनना पड़ा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है। जन्म की प्रणाली सब प्राणियों की एक नहीं है। भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न ढंग से जन्म लेते हैं। एक बच्चा मां के पेट में जन्म लेता है और पौधा मिट्टी में। बच्चे की जन्म प्रक्रिया पौधे की प्रक्रिया से भिन्न है। बच्चा स्त्री और पुरुष के रज तथा वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है। पौधा बीज से पैदा हो जाता है। इस प्रक्रिया भेद के आधार पर जैन आगम जन्म के दो विभाग करते हैं—गर्भ और सम्मूर्च्छन। स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाले जन्म को गर्भ और उनके संयोग निरपेक्ष जन्म को सम्मूर्च्छन कहा जाता है। साधारणतया उत्पत्ति और अभिव्यक्ति के लिए गर्भ शब्द का प्रयोग सब जीवों के लिए होता है। स्थानांग में बादलों के गर्भ बतलाए हैं। किन्तु जन्म-भेद की प्रक्रिया के प्रसंग में 'गर्भ' का उक्त विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। चैतन्य-विकास की दृष्टि से भी 'गर्भ' को विशेष अर्थ में रूढ़ करना आवश्यक है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और माता-पिता के संयोग निरपेक्ष जन्म पाने वाले प्राणी वर्गों में मानसिक विकास नहीं होता है। माता-पिता के संयोग से जन्म पाने वाले जीवों में मानसिक विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीव की जन्म प्रक्रिया गर्भ और अमनस्क जीवों की जन्म प्रक्रिया 'सम्मूर्च्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म विभाग के आधार पर चैतन्य विकास का सिद्धांत स्थिर होता है—गर्भज समनस्क

और सम्मूच्छेन अमनस्क ।

गर्भज जीवों के मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यच—ये दो वर्ग हैं ।

मानुषी गर्भ के चार विकल्प हैं—स्त्री, पुरुष, नपुंसक और बिम्ब । ओज की मात्रा अधिक, वीर्य की मात्रा अल्प, तब स्त्री होती है । ओज अल्प और वीर्य अधिक तब पुरुष होता है । दोनों के तुल्य होने पर नपुंसक होता है । वायु के दोष से ओज गर्भाशय में स्थिर हो जाता है, उसका नाम 'बिम्ब' है । वह गर्भ नहीं, किन्तु गर्भ का आकार होता है । वह आर्त्तव की निर्जीव परिणति होती है । ये निर्जीव बिम्ब जैसे मनुष्य-जाति में होते हैं, वैसे ही पशु-पक्षी जाति में भी होते हैं । निर्जीव अण्डे जो आजकल प्रचुर मात्रा में पैदा किये जाते हैं, उनकी यही प्रक्रिया हो सकती है ।

### गर्भाधान की कृत्रिम पद्धति

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का संयोग है । कृत्रिम रीति से भी गर्भाधान हो सकता है । 'स्थानांग' में उसके पांच कारण बतलाए हैं । उन सबका सार कृत्रिम रीति से वीर्य-प्रक्षेप है । गर्भाधान के लिए मुख्य बात वीर्य और आर्त्तव के संयोग की है । उसकी विधि स्वाभाविक और कृत्रिम—दोनों प्रकार की हो सकती है ।

### गर्भ की स्थिति

तिर्यञ्च की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष की है । मनुष्य की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है । कायभवस्थ की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष की है । गर्भ में बारह वर्ष बिता कर मर जाता है और फिर जन्म लेकर और बारह वर्ष वहां रहता है । इस प्रकार काय-भवस्थ अधिक से अधिक चौबीस वर्ष तक गर्भ में रह जाता है ।

योनिभूत वीर्य की स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त की होती है ।

### गर्भ संख्या

एक स्त्री के गर्भ में एक-दो यावत् नौ लाख तक जीव उत्पन्न हो सकते हैं । किंतु वे सब निष्पन्न नहीं होते । अधिकांश निष्पन्न हुए बिना ही मर जाते हैं ।



### गर्भ प्रवेश की स्थिति

गौतम ने पूछा—‘भगवन् ! जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन-इन्द्रिय ?’

भगवान् ने कहा—‘गौतम ! स-इन्द्रिय भी होता है और अन-इन्द्रिय भी ।’

गौतम ने फिर पूछा—‘यह कैसे, भगवन् ?’

भगवान् ने उत्तर दिया—‘द्रव्य-इन्द्रिय की अपेक्षा से वह अन-इन्द्रिय होता है और भाव-इन्द्रिय की अपेक्षा से स-इन्द्रिय ।

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक) की अपेक्षा से अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा से स-शरीर होता है ।

गर्भ में प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है । गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार मां के आहार का ही सार-अंश होता है । उसके कवल-आहार नहीं होता । वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है । उसके उच्छ्वास-निःश्वास बार-बार होते हैं ।

### बाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ में रहे हुए जीव पर बाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है । किसी-किसी गर्भगत जीव में वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप बनाने का सामर्थ्य) होती है । वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बना उससे लड़ता है । उसमें अर्थ, राज्यभोग और काम की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है । कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त बन जाता है । उसका धर्मानुराग तीव्र हो जाता है ।

तीसरे प्रकार का जन्म है—उपपात । स्वर्ग और नरक में उत्पन्न होने वाले जीव उपपात जन्म वाले होते हैं । वे निश्चित जन्मकक्षों में उत्पन्न होते हैं और अन्तर्-मुहूर्त में युवा बन जाते हैं ।

### जन्म के प्रारम्भ में

तीन प्रकार से पैदा होने वाले प्राणी अपने स्थानों में आते ही सबसे पहले आहार लेते हैं । वे स्व-प्रायोग्य पुद्गलों का आकर्षण और संग्रह करते हैं । सम्मूच्छनज प्राणी उत्पत्ति-क्षेत्र के पुद्गलों का

आहार करते हैं। गर्भज प्राणी का प्रथम आहार रज-वीर्य के अणुओं का होता है। देवता अपने-अपने स्थान के पुद्गलों का संग्रह करते हैं। इसके अनन्तर ही उत्पन्न प्राणी पौद्गलिक शक्तियों का क्रमिक निर्माण करते हैं। वे छह हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। इन्हें पर्याप्ति कहते हैं। कम से कम चार पर्याप्तियाँ प्रत्येक प्राणी में होती हैं।

## जन्म

लोक शाश्वत है। संसार अनादि है। जीव नित्य है। कर्म की बहुलता है। जन्म-मृत्यु की बहुलता है, इसलिए एक परमाणु मात्र भी लोक में ऐसा स्थान नहीं, जहाँ जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

‘ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नहीं, जहाँ जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हों।’

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, तब तक उसको जन्म-मरण की परंपरा नहीं रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवों का उत्पत्ति-क्रम एक-सा नहीं होता। अनेक जातियाँ हैं, अनेक योनियाँ हैं और अनेक कुल हैं। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाएं अनेक नहीं हैं। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अतएव जन्म के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। जिनका उत्पत्ति स्थान नियत नहीं होता और जो गर्भ धारण नहीं करते, उन जीवों की उत्पत्ति को ‘सम्मूर्च्छन’ कहते हैं। चतुरिन्द्रिय तक सब जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। कई तिर्यच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल-मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्च्छनज होते हैं। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनके जन्म का नाम ‘गर्भ’ है। अण्डज, पोतज और जरायुज पंचेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते हैं। जिनका उत्पत्ति स्थान नियत होता है, उनका जन्म ‘उपपात’ कहलाता है। देव और नारक उपपात-जन्मा होते हैं। नारकों के लिए कुम्भी (छोटे मुंह की कुण्ड) और देवता के लिए शय्याएं नियत होती हैं। प्राणी सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

## प्राण और पर्याप्ति

आहार, चित्तन, जल्पन आदि सब क्रियाएं प्राण और पर्याप्ति—इन दोनों के सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने में प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इंद्रिय-पर्याप्ति और इंद्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन-पर्याप्ति और मन-प्राण—ये परस्पर सापेक्ष हैं। इससे हमें यह निश्चय होता है कि प्राणियों की शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाएं हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक शक्ति—दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती हैं।

## प्राण-शक्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण-शक्तियां दस हैं—

- |                          |                        |
|--------------------------|------------------------|
| १. स्पर्शन-इंद्रिय-प्राण | ६. मन-प्राण            |
| २. रसन-इंद्रिय-प्राण     | ७. वचन-प्राण           |
| ३. घ्राण-इंद्रिय-प्राण । | ८. काय-प्राण           |
| ४. चक्षु-इंद्रिय-प्राण । | ९. श्वासोच्छ्वास-प्राण |
| ५. श्रोत-इंद्रिय-प्राण । | १०. आयुष्य-प्राण ।     |

प्राण-शक्तियां सब जीवों में समान नहीं होतीं। फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी में होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन-इंद्रिय—इन जीवन-शक्तियों में जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियों की रचना करता है। उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी में जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियों का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना में प्राणी को अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण में ही प्रारंभ हो जाती है, पर आहार-

पर्याप्त के सिवाय शेष सभी की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त से पहले नहीं होती। स्वयोग्य पर्याप्तियों की परिसमाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते हैं और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहां इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इंद्रिय—इन तीन पर्याप्तियों की पूर्ण रचना किए बिना कोई प्राणी नहीं मरता।

### जीवों के चौदह भेद और उनका आधार

जीवों के निम्नोक्त चौदह भेद हैं—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त

पर्याप्त और अपर्याप्त की संक्षिप्त चर्चा करने के बाद अब हमें यह देखना चाहिए कि जीवों के इन चौदह भेदों का मूल आधार क्या है? पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों जीवों की अवस्थाएं हैं। जीवों की जो श्रेणियां की गई हैं उन्हीं के आधार पर ये चौदह भेद बनते हैं। इनमें एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय सूक्ष्म और बादर ऐसा भेद-करण और किसी का नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नहीं होते। सूक्ष्म की कोटि में हम उन जीवों को परिगणित करते हैं, जो समूचे लोक में जमे हुए होते हैं; जिन्हें अग्नि जला नहीं सकती; तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र छेद नहीं सकते; जो अपनी आयु से जीते हैं और अपनी मौत से मरते हैं, और जो इंद्रियों द्वारा नहीं जाने जाते। प्राचीन शास्त्रों में 'सर्व जीवमयं जगत्' इस सिद्धांत की स्थापना हुई, वह इन्हीं जीवों को ध्यान में रखकर हुई है। कई भारतीय दार्शनिक परम ब्रह्म को जगत्-व्यापक मानते हैं, कई आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं और जैन-दृष्टि के अनुसार इन सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक व्याप्त है। सबका तात्पर्य यही है कि चेतना-सत्ता लोक के सब भागों में है। कई कृमि, कीट सूक्ष्म कहे जाते हैं, किन्तु वस्तुतः वे स्थूल हैं, वे आंखों से देखे जा सकते हैं। साधारणतया न

देखे जाएं तो सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्रों से देखे जा सकते हैं। अतएव उनमें सूक्ष्म जीवों की कोई श्रेणी नहीं। बादर एकेन्द्रिय के एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता। हमें जो एकेन्द्रिय शरीर दीखते हैं, वे असंख्य जीवों के, असंख्य शरीरों के पिण्ड होते हैं। सचित्त मिट्टी का एक छोटा-सा रज-कण, पानी की एक बूंद या अग्नि की एक चिनगारी—ये एक जीव के शरीर नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक में अपनी-अपनी जाति के असंख्य जीव होते हैं और उनके असंख्य शरीर पिण्डीभूत हुए रहते हैं तथा उस दशा में दृष्टि के विषय भी बनते हैं इसलिए वे बादर हैं। साधारण वनस्पति के एक, दो, तीन या चार जीवों का शरीर नहीं दीखता, क्योंकि उनमें से एक-एक जीव में शरीर-निष्पादन की शक्ति नहीं होती। वे अनन्त जीव मिलकर एक शरीर का निर्माण करते हैं। इसलिए अनन्त जीवों के शरीर स्थूल-परिणतिमान होने के कारण दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म—अपर्याप्त और पर्याप्त, बादर—अपर्याप्त और पर्याप्त ये चार भेद होते हैं। इसके बाद चतुरिन्द्रिय तक के सब जीवों के दो-दो भेद होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के चार विभाग हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीवों की सूक्ष्म और बादर—ये दो प्रमुख श्रेणियां हैं, वैसे पंचेन्द्रिय जीव समनस्क और अमनस्क—इन दो भागों में बंटे हुए हैं। चार इन्द्रिय तक के सब जीव अमनस्क होते हैं। इसलिए मन की लब्धि या अनुपलब्धि के आधार पर उनका कोई विभाजन नहीं होता। सम्मूर्च्छनज पंचेन्द्रिय जीवों के कोई मन नहीं होता। गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय जीव समनस्क होते हैं। अतएव असंज्ञी-पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, संज्ञी-पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। संसार के प्राणी मात्र इन चौदह वर्गों में समा जाते हैं। इस वर्गीकरण से हमें जीवों के क्रमिक विकास का भी पता चलता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से दो इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वालों से तीन इन्द्रिय वाले जीव इस प्रकार क्रमशः पूर्व श्रेणी के जीवों से उत्तर श्रेणी के जीव अधिक विकसित हैं।

### इन्द्रिय-ज्ञान और पांच जातियां

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है। इसलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आंख फूट जाती है,

फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नहीं होता । उसकी दर्शन-शक्ति कहीं नहीं जाती किन्तु आंख के अभाव में उसका उपयोग नहीं होता । आंख में विकार होता है, दीखना बन्द हो जाता है । उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है । यह पौद्गलिक इंद्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है । कई प्राणियों में सहायक इंद्रियों के बिना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव में नहीं होता । वनस्पति में रसन आदि पांचों इंद्रियों के चिह्न मिलते हैं । उनमें भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इंद्रिय का सद्भाव नहीं होता, इसलिए वे एकेन्द्रिय ही कहलाते हैं । उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं । पहला यह कि इंद्रिय-ज्ञान चेतन-इंद्रिय और जड़-इंद्रिय दोनों के सहयोग से होता है फिर भी जहां तक ज्ञान का सम्बन्ध है, उसमें चेतन-इंद्रिय की प्रधानता है । दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियों की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—ये पांच जातियां बनने में दोनों प्रकार की इंद्रियां कारण हैं फिर भी यहां द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है । एकेन्द्रिय के अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इंद्रियों के अभाव में पंचेन्द्रिय नहीं कहलाते ।

### मानस ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी

इंद्रिय के बाद मन का स्थान है । यह भी परोक्ष है । पौद्गलिक मन के बिना इसका उपयोग नहीं होता । इंद्रिय-ज्ञान से इसका स्थान ऊंचा है । प्रत्येक इंद्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत । यह सब विषयों को ग्रहण करता है । इंद्रिय-ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानस-ज्ञान त्रैकालिक । इंद्रिय-ज्ञान में तर्क-वितर्क नहीं होता, मानस-ज्ञान आलोचनात्मक होता है ।

मानस-प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है । कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेंद्रिय का उपयोग नहीं होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर मानस-शक्ति का उपयोग नहीं होता । मानस-ज्ञान गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय प्राणियों के ही होता है । इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागों बट जाते हैं—संज्ञी और असंज्ञी या समनस्क और अमनस्क । द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में आत्म-रक्षा

की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट-निवृत्ति, आहार, भय आदि संज्ञाएं, संकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति, गति आदि चेष्टाएं होती हैं—ये मन के कार्य हैं। तब फिर वे असंज्ञी क्यों ? बात सही है। इष्ट-प्रवृत्ति और अनिष्ट-निवृत्ति का संज्ञान मानस-ज्ञान की परिधि का है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उससे कोई प्राणी संज्ञी नहीं बनता। एक कौड़ी भी धन है, पर उससे कोई धनी नहीं कहलाता। संज्ञी वही होते हैं जिनमें दीर्घकालिकी संज्ञा मिले; जो भूत, वर्तमान और भविष्य की ज्ञान-शृंखला को जोड़ सकें।

### इन्द्रिय और मन

पूर्व पंक्तियों में इन्द्रिय और मन का संक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे उन्हीं का स्वरूप स्पष्ट होता है। संज्ञी और असंज्ञी के इन्द्रिय और मन का क्रम स्पष्ट नहीं होता। असंज्ञी और संज्ञी के इन्द्रिय-ज्ञान में कुछ तरतम रहता है या नहीं ? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं ? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असंज्ञी के केवल इन्द्रिय-ज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस दोनों ज्ञान होते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा दोनों के लिए एक है। किसी रंग को देखकर संज्ञी और असंज्ञी चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रंग है। इन्द्रिय-ज्ञान में भी अपार तरतम होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे बहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रंग है, इससे आगे नहीं जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात्, ऐसा क्यों ? इससे क्या लाभ ? यह स्थायी है या अस्थायी ? कैसे बना ? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाएं मन का कार्य हैं। असंज्ञी के ऐसी जिज्ञासाएं नहीं होतीं। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय-ज्ञान में प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती। संज्ञी जीवों में इन्द्रिय और मन दोनों का उपयोग होता है। मन इन्द्रिय-ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध अवस्थाओं को जानता है। मन का मनन या चिंतन स्वतंत्र हो सकता है, किन्तु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनके ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए संज्ञी-ज्ञान में इन दोनों का गहरा संबंध है।

## जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले नौ समनस्क जीवनो की घटनावलि या जानी सकती हैं। पूर्वजन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती, इसकी कारण-मीमांसा करते हुए आचार्य ने लिखा है—

“जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।

तेण दुक्खेण संमूढो, जाइ सरइ न अप्पणो ॥”

व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ़ हो जाता है; इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती।

एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति में पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसलिए ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।

## अतीन्द्रियज्ञान—योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इंद्रिय और मन दोनों से महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए पौद्गलिक साधनों—शारीरिक अवयवों के सह-योग की अपेक्षा नहीं होती। यह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानों से सुनते हैं, आंखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य [निरपेक्ष सत्य] तक पहुँच नहीं होती। उसका विषय केवल व्यावहारिक सत्य [सापेक्ष सत्य] होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इंद्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठंडी होगी। जिसका तापमान हमारी उष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति-स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नहीं।



इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी ज्ञप्ति में देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नहीं आता, इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

### दो प्रवाह : आत्मवाद और अनात्मवाद

ज्ञान का अंश यत्किंचित् मात्रा में प्राणी-मात्र में मिलता है। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी हैं। उनमें बौद्धिक विकास अधिक होता है। बुद्धि का काम है—सोचना, समझना, तत्त्व का अन्वेषण करना। उन्होंने सोचा, समझा, तत्त्व का अन्वेषण किया। उसमें से दो विचार-प्रवाह निकले—क्रियावाद और अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले 'क्रियावादी' और इन पर विश्वास नहीं करनेवाले 'अक्रियावादी' कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने संयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियों ने—'शारीरिक कष्टों को समभाव से सहना महाफल है,' 'आत्महित कष्ट सहने से सधता है'—ऐसे वाक्यों की रचना की और अक्रियावादियों के मंतव्य के आधार पर—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्—जैसी युक्तियों का सृजन हुआ।

क्रियावादी वर्ग ने कहा—'जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापस नहीं आता। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं। इसलिए धर्म करने में एक क्षण भी प्रमाद मत करो, क्योंकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूंद के समान क्षणभंगुर है। यदि इस जीवन को व्यर्थ गंवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। कर्मों के विपाक बड़े निबिड़ होते हैं। अतः समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो? ऐसा सद्-विवेक बार-बार नहीं मिलना। बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इंद्रियां शक्ति-हीन न बनें, तब तक धर्म का आचरण कर लो। नहीं तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राज-

मार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जाने वाला गाड़ीवान रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है ।’

अक्रियावादियों ने कहा—‘यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुख को पाने की दौड़ में लगे हुए हैं । ये कामभोग हाथ में आए हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं । जो पीछे होनेवाला है, न जाने कब क्या होगा ? परलोक किसने देखा है ? कौन जानता है कि परलोक है या नहीं ? जन-समूह का एक बड़ा भाग सांसारिक सुखों का उपभोग करने में व्यस्त है, तब फिर हम क्यों न करें ? जो दूसरों को होगा, वही हमको भी होगा । हे प्रिये ! चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं, खूब खा-पी, आनन्द कर, जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है । मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नहीं । कुछ लोग परलोक के दुःखों का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखों से विमुख किए देते हैं । पर यह अतात्त्विक है ।’

क्रियावाद की विचारधारा में वस्तुस्थिति स्पष्ट हुई । लोगों ने संयम सीखा । त्याग-तपस्या को जीवन में उतारा ।

अक्रियावाद की विचार-प्रणाली से वस्तुस्थिति ओझल रही । लोग भौतिक सुखों की ओर मुड़े ।

क्रियावादियों ने कहा—‘सुकृत और दुष्कृत का फल होता है । शुभ कर्मों का फल अच्छा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है । जीव अपने पाप एवं पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं । पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है ।’

फलस्वरूप लोगों में धर्मरुचि पैदा हुई । अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प-परिग्रह का महत्त्व बढ़ा । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा ।

अक्रियावादियों ने कहा—‘सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता । शुभ कर्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल नहीं होते । आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता ।’

फलस्वरूप लोगों में सन्देह बढ़ा । भौतिक लालसा प्रबल हुई । महा-इच्छा, महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया ।

क्रियावादी की अन्तर्-दृष्टि 'अपने किए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं' इस पर लगी रहती है। वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नहीं। इसलिए यथासम्भव पाप-कर्म से बचा जाए, यही श्रेयस् है। अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबराता नहीं, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु का वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि-बिन्दु 'हत्थागया इमे कामा'—ये काम हाथ में आए हुए हैं—जैसी भावना पर टिका हुआ होता है। वह सोचता है कि इन भोग-साधनों का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना-जाना नहीं है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवों की सार्थक और निरर्थक हिंसा करने में सकुचाता नहीं। वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मों को स्मरण कर पछताता है। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मन्तिक रोग और मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक कांप उठते हैं। वे नास्तिकता को तिलांजलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्तकाल में अक्रियावादी को यह सन्देह होने लगता है—“मैंने सुना कि नरक है ? जो दुराचारी जीवों की गति है, जहां क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवों को प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। यह कहीं सच तो नहीं है ? अगर है तो मेरी क्या दशा होगी ?” इस प्रकार वह संकल्प-विकल्प की दशा में मरता है।

क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व में सन्देह मत करो। वह अमूर्त है, इसलिए इंद्रियग्राह्य नहीं है। वह अमूर्त है, इसलिए नित्य है। अमूर्त पदार्थ मात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरांत भी स्वकृत अज्ञान आदि दोषों के बन्धन में बन्धा हुआ है। वह बन्धन ही संसार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। इस जगत् में केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पांच महाभूत ही हैं। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है। भूतों का नाश होने पर उसका भी

नाश हो जाता है। जीवात्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी और तिलों से तेल पैदा होता है, वैसे ही पंच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती।

इस प्रकार दोनों प्रवाहों से जो धाराएं निकलती हैं, वे हमारे सामने हैं। हमें इनको अथ से इति तक परखना चाहिए, क्योंकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का खयाल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसा-बहुल विचारधारा में बह चले हैं। जीवन की क्षणभंगुरता को बिसार कर महारम्भ और महापरिग्रह में फंसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार में यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी? अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नहीं। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें, आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा में क्रियावादी हैं, सही अर्थ में नहीं। भविष्य को सोचने का अर्थ वर्तमान में आंख मूंद लेना नहीं है! भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय वासनाओं में फंसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राणघात से भी भयंकर है। उसे आत्म-अन्वेषणा करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—  
“हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परन्तु उसमें समायी हुई अपने को प्रदर्शित करनेवाली एक स्वतंत्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता। भौतिक और पारभौतिक संज्ञाओं के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।”

## आत्मा क्यों ?

अक्रियावादी कहते हैं—‘जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा इंद्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए ?’ क्रियावादी कहते हैं—पदार्थों को जानने का साधन केवल इंद्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इंद्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो-चार पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इंद्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गंध रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इंद्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है, चिंतन करता है। मूर्त के माध्यम से वह अमूर्त वस्तुओं को भी जानता है। इस-लिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इंद्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितांत अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस गंध और स्पर्श नहीं है। वह अरूपी सत्ता है।

अरूपी तत्त्व इंद्रियों से नहीं जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसलिए इंद्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इंद्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन-कब जान सकता है ? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी हैं, वे सभी कोरी इंद्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इंद्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने से कोई तथ्य नहीं निकलता।

अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इंद्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं।

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इंद्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं, यह मानना तर्क-बाधित है, क्योंकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इंद्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

## भारतीय दर्शन में आत्मा के साधक तर्क

किसी भी भारतीय व्यक्ति को आम के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु के विषय में संदेह नहीं होता। जिन देशों में आम नहीं होता, उन देशों की जनता के

लिए आम परोक्ष है। परोक्ष वस्तु क विषय में या तो हमारा ज्ञान ही नहीं होता, यदि सुन या पढ़ कर ज्ञान होता है तो वह साधक-बाधक तर्कों की कसौटी से कसा हुआ होता है। साधक प्रमाण बलवान् होते हैं तो हम परोक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं, और बाधक प्रमाण बलवान् होते हैं तो हम उसके अस्तित्व को नकार देते हैं।

भारत में जैसे आम प्रत्यक्ष है, वैसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होती तो भारतीय दर्शन का विकास आठ आना ही हुआ होता। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका चिंतन, मंथन, मनन और दर्शन भारत में इतना हुआ है कि आत्मवाद भारतीय दर्शन का प्रधान अंग बन गया। यहां अनात्मवादी भी रहे हैं, किन्तु आत्मवादियों की तुलना में आटे में नमक जितने ही रहे हैं। अनात्मवादियों की संख्या भलेही कम रही हो, उनके तर्क कम नहीं रहे हैं। उन्होंने समय-समय पर आत्मा के बाधक-तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके विपक्ष में आत्मवादियों द्वारा आत्मा के साधक-तर्क प्रस्तुत किए गए। संक्षेप में उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

### १. स्व-संवेदन

अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'मैं हूँ' 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—यह अनुभव शरीर को नहीं होता, किन्तु उसे होता है जो शरीर से भिन्न है। शंकराचार्य के शब्दों में—'सर्वोप्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति'—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूँ'। यह विश्वास किसी को नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ।'।

### २. अत्यन्ताभाव

इस तार्किक नियम के अनुसार चेतन और अचेतन में त्रैकालिक विरोध है। जैन-आचार्यों के शब्दों में 'न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए।'।

### ३. उपादान कारण

इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप में परिणत होती है। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते।

#### ४. सत्-प्रतिपक्ष

जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं है उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नहीं मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन—अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध ही नहीं होता।

#### ५. बाधक प्रमाण का अभाव

अनात्मवादी—आत्मा नहीं है, क्योंकि उसका कोई साधक प्रमाण नहीं मिलता।

आत्मवादी—आत्मा है क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता।

#### ६. सत् का निषेध

जीव यदि न हो तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता। असत् का निषेध नहीं होता। जिसका निषेध होता है, वह अस्तित्व में अवश्य होता है।

निषेध चार प्रकार के हैं—

१. संयोग

३. सामान्य

२. समवाय

४. विशेष।

'मोहन घर में नहीं है' यह संयोग-प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नहीं कि मोहन है ही नहीं, किन्तु 'वह घर में नहीं है'—यह 'गृह-संयोग' का प्रतिषेध है। 'खरगोश के सींग नहीं होते'—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सींग भी। इनका प्रतिषेध नहीं है। वहां केवल 'खरगोश के सींग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चांद नहीं है' इसमें चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है। 'मोती घड़े-जितने बड़े नहीं हैं'—इसमें मुक्ता का अभाव नहीं, किन्तु 'घड़े-जितने बड़े'—यह जो विशेषण है उसका प्रतिषेध है।

आत्मा नहीं है, इसमें आत्मा का निषेध नहीं, किन्तु उसका किसी के साथ होने वाले संयोग का निषेध है।

#### ७. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य

यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होने मात्र से आत्मा का अस्तित्व नकारा जाए तो प्रत्येक सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु



के अस्तित्व का अस्वीकार करना होगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से मूर्त तत्त्व का ग्रहण होता है। आत्मा अमूर्त तत्त्व है, इसलिए इंद्रियां उसे नहीं जान पातीं। इससे इंद्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य सिद्ध होता है, आत्मा का अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

#### ८. गुण द्वारा गुणी का ग्रहण

चैतन्य गुण है और चेतन गुणी। चैतन्य प्रत्यक्ष है, चेतन प्रत्यक्ष नहीं है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। भौंहारे में बैठा आदमी प्रकाश को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है।

#### ९. विशेष गुण द्वारा स्वतंत्र अस्तित्व का बोध

वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतंत्र पदार्थ वही होता है, जिसमें ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले जो किसी दूसरे पदार्थ में न मिले।

आत्मा में चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में प्राप्त नहीं है, इसलिए आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतंत्र अस्तित्व है।

#### १०. संशय

जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ' वही जीव है। अचेतन को अपने अस्तित्व के विषय में कभी संशय नहीं होता। 'यह है या नहीं'—ऐसी ईहा या विकल्प चेतन के ही होता है। सामने जो लम्बा-चौड़ा पदार्थ दीख रहा है, 'वह खंभा है या आदमी' यह विकल्प सचेतन व्यक्ति के ही मन में उठता है।

#### ११. द्रव्य की त्रैकालिकता

जो पहले-पीछे नहीं है, वह मध्य में नहीं हो सकता। जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है, वह यदि पहले न हो और पीछे भी न हो तो वर्तमान में भी नहीं हो सकता।

#### १२. संकलनात्मकता

इन्द्रियों का अपना-अपना निश्चित विषय होता है। एक इंद्रिय दूसरी इंद्रिय के विषय को नहीं जान सकती। इन्द्रियां ही ज्ञात हों, उनका प्रवर्तक आत्मा ज्ञाता न हो तो सब इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। फिर मैं स्पर्श, रस, गंध, रूप

और शब्द को जानता हूं, इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान किसे होगा? ककड़ी को चबाते समय स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द—इन पाँचों को जान रहा हूं, ऐसा ज्ञान होता है।

### १३. स्मृति

इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयों की स्मृति रहती है। आंख से कोई वस्तु देखी, कान से कोई बात सुनी; संयोगवश आंख फूट गई और कान का पर्दा फट गया, फिर भी दृष्टि और श्रुति की स्मृति रहती है।

संकलनात्मक ज्ञान और स्मृति—ये मन के कार्य हैं। मन आत्मा के बिना चालित नहीं होता। आत्मा के अभाव में इन्द्रिय और मन—दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं। अतः दोनों के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

### १४. ज्ञेय और ज्ञाता का पृथक्त्व

ज्ञेय इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक है, इन्द्रियां ग्रहण के साधन हैं और पदार्थ ग्राह्य हैं। लोहार सण्डासी से लोहपिंड को पकड़ता है। लोहपिंड ग्राह्य है, सण्डासी ग्रहण का साधन है और लोहार ग्राहक है। ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो तो सण्डासी लोहपिंड को नहीं पकड़ सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रिय और मन अपने विषय को ग्रहण नहीं कर पाते।

### १५. पूर्व संस्कार की स्मृति

आत्मा में संस्कारों का भण्डार भरा पड़ा है। उन संस्कारों की स्मृति होती रहती है।

इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने बहुमुखी तर्कों द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म का समर्थन किया।

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा यह व्यक्त होता है। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नहीं है। वह लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नहीं है, मंडलाकार नहीं है। वह हलका नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं। कल्पना से उसका माप किया जाए तो वह असंख्य

परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है।

वह अरूप है, इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं।

वह एकान्ततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य और तर्क द्वारा गम्य नहीं है।

### जैन-दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

१. जीव स्वरूपतः अनादि-अनंत और नित्य-अनित्य—

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अंत) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य और पर्याय नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

२. संसारी जीव और शरीर का अभेद—

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गंजी से आदमी भिन्न नहीं होता, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गंध—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं।

३. जीव का परिमाण—

जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर में होता है वह कुन्धु के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार—दोनों दशाओं में प्रदेश-संख्या, अवयव-संख्या समान रहती है।

४. आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से—

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीन कालों में अनादि और अविनाशी है।

५. आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त की दृष्टि से—

जैसे आकाश अमूर्त है, फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

६. जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध—

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है ।

७. जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से—

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी—अवस्थित होता है ।

८. जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से—

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं, तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है । ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्याप्त बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव-द्रव्य बना का बना रहता है ।

९. जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से—

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है ।

१०. जीव और सूर्य की तुलना—भवानुयायित्व की दृष्टि से—

जैसे दिन में सूर्य यहां प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्रों में चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नहीं, वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है ।

११. जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण—

जैसे कमल, चंदन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दीखता, फिर भी घ्राण के द्वारा उसका ग्रहण होता है, वैसे जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है ।

भंभा, मृदंग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किंतु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता, तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है ।

१२. जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण—

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है, तब

यद्यपि वह नहीं दीखता, फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अंदर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना-चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है ।

### १३. जीव के कर्म का परिणमन—

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातुओं के रूप में परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं ।

जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध—

जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (साहचर्य) भी अनादि है । जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव संवर, तपस्या आदि उपायों के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है ।

### १५. जीव और कर्म के सम्बन्ध में पौर्वापर्य नहीं—

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं, वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है । दोनों अनादि-सहगत हैं ।

## भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होनेवाला, कर्त्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है ।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं । वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं । क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काय) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं । इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है । बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष का स्वीकार करते हैं । आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं । इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—“यदि मैं कहूं आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं,

यदि कहूं कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए इन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूं।”

नागार्जुन लिखते हैं—“बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और आत्मा नहीं है यह भी कहा है। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।”

बुद्ध ने आत्मा क्या है, कहां से आया है और कहां जाएगा—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा, “तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहां से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।”

बुद्ध का यह मध्यम-मार्ग का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध मन को भौतिक तत्त्वों से अलग स्वीकार करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं, जैसे—

“अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।

अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने ॥”

सांख्य जीव को कर्त्ता नहीं मानते, फल-भोक्ता मानते हैं। उनके मतानुसार कर्त्तृ-शक्ति प्रकृति है।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उनके अनुसार—“एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः”—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्य-वादी और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मा-नैक्यवादी हैं।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु—व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति द्वारा बताया है। वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है,

न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है ।

संक्षेप में—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं चेतना का प्रवाह मात्र है ।

न्याय-वैशेषिक—आत्मा स्थायी किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नहीं । गहरी नींद में वह चेतनाविहीन हो जाती है ।

वैशेषिक—मोक्ष में आत्मा की चेतना नष्ट हो जाती है ।

सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है । । बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्तन है ।

मीमांसक—आत्मा में अवस्था-भेद-कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है ।

जैन—आत्मा परिवर्तन-युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है । बुद्धि भी चेतन है । गहरी नींद या मूर्च्छा में चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है । मोक्ष में चेतना का सहज उपयोग होता है । चेतना की आवृत-दशा में उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत-दशा में वह सतत प्रवृत्त रहती है ।

**औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन-दृष्टि से तुलना**

औपनिषदिक-सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है । 'आत्मा' शब्द-वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ । वह यह पुरुष अन्न-रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है । इस अन्न-रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है । इसके सिर आदि अंगोपांग माने गए हैं । प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है । किन्तु उसकी भांति अंगोपांग वाला नहीं है । पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है । पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है । इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है ।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे

ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है।

इस मनोमय शरीर की तुलना मनःपर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय-रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

### सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राण और अप्राणी में क्या भेद है? यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आंदोलित नहीं करता? प्राण प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश्य द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव	अजीव
1. प्रजनन-शक्ति (संतति-उत्पादन)	प्रजनन-शक्ति नहीं।
2. वृद्धि	वृद्धि नहीं।
3. आहार-ग्रहण। स्वरूप में परिणमन विसर्जन...	नहीं
4. जागरण, नींद, परिश्रम विश्राम	नहीं
5. आत्म-रक्षा के लिए	नहीं
6. भय-त्रास	नहीं

भाषा अजीव में नहीं होती किन्तु सब जीवों में भी नहीं होती — त्रस जीवों में होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती—इसलिए यह जीव का लक्षण नहीं बनता।

गति जीव और अजीव दोनों में होती है किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं।



अजीव के चार प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश और काल गतिशील नहीं है, केवल पुद्गल गतिशील है। उसके दोनों रूप परमाणु और स्कंध (परमाणु-समुदाय) गतिशील हैं। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल-स्कंध प्रयोग के बिना गति नहीं करते। सूक्ष्म-स्कंध स्थूल-प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिए उनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्गल-स्कंधों में कंपन, प्रकंपन, चलन, क्षोभ, स्पंदन, घट्टन, उदीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर विभंग-अज्ञानी (पारद्वष्टामिथ्यादृष्टि) को ये सब जीव हैं—ऐसा भ्रम हो जाता है।

अजीव में जीव या अणु में कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, बल, वीर्य हैं। ये शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल में गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती।

### जीव के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय-जन्म-वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-संरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमित तिर्यग्-गति—ये जीवों के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है, लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकती। किसी हृद तक अपना नियंत्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टारपीडो में स्वयं-चालक शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यंत्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यंत्र को उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई यंत्र नहीं जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के बिना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग्-गति कर सके। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन-वेग से दौड़ सकती है, पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। चींटी में चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है! रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नहीं है। ये लक्षण जीवधारियों की अपनी विशेषताएं हैं। जड़ में ये नहीं मिलतीं।

## जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र में उसका न्यूनाधिक यात्रा में सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों के अनंत होती है, पर विकास की अपेक्षा से वह सब में एक-सी नहीं होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होती है। एकेन्द्रिय वाले जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभवमिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए, शास्त्रों में कहा है—‘केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) का अनंतवा भाग तो सब जीवों के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।’

## मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है।

यह आत्मा प्रदेश-मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है।

यह आत्मा शरीर-व्यापी है।

यह आत्मा सर्व-व्यापी है।

हृदय-कमल के भीतर यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है।

जीव संख्या की दृष्टि से अनंत हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य-प्रदेशी है। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है। ‘केवली-समुद्घात’ की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। ‘मरण-समुद्घात’ के समय भी आंशिक व्यापकता होती है।

प्रदेश-संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये चार समतुल्य हैं। अवगाह की दृष्टि से सम नहीं हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति-शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी

जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली-समुद्घात के सिवाय) नहीं होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और विकोच जीवों की स्वभाव-प्रक्रिया नहीं है—वे कर्मण शरीर-सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बन्धे हुए हैं, इसलिए उनका परिमाण स्वतंत्र नहीं होता। कर्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त-दशा में संकोच-विकोच नहीं, वहाँ चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक के प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कर्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

### बद्ध और मुक्त

आत्मा दो भागों में विभक्त है—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म बन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रगट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएं होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एवं शरीर-जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं होते। वे आत्म रूप हो जाती हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊँचे लोक के चरम भाग में होता है। वे मुक्त होते ही वहाँ पहुँच जाती हैं। आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। बन्धन के

कारण ही वह तिरछा या नीचे जाता है। ऊपर जाने के बाद वह फिर कभी नीचे नहीं आता। वहां से अलोक में भी नहीं जा सकता। वहां गति तत्त्व (धर्मास्तिकाय) का अभाव है। दूसरी श्रेणी की जो संसारी आत्माएं हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओं से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है तथापि उनके स्वरूप में पूर्ण समता होती है। संसारी जीवों में भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किंतु वह कर्म से आवृत रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों में बंट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव। जीवों के ये छह निकाय शारीरिक परमाणुओं की भिन्नता के अनुसार रचे गये हैं। सब जीवों के शरीर एक से नहीं होते। किन्हीं जीवों का शरीर पृथ्वी होता है तो किन्हीं का पानी। इस प्रकार पृथक् पृथक् परमाणुओं के शरीर बनते हैं। इनमें पहले पांच निकाय 'स्थावर' कहलाते हैं। त्रस जीव इधर उधर घूमते हैं, शब्द करते हैं, चलते फिरते हैं, संकुचित होते हैं, फैल जाते हैं, इसलिए उनकी चेतना में कोई संदेह नहीं होता। स्थावर जीवों में ये बातें नहीं होतीं अतः उनकी चेतनता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

### जीव-परिमाण

जीवों के दो प्रकार हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अनन्त हैं। संसारी जीवों के छह निकाय हैं। उनका परिमाण निम्न प्रकार है—

१. पृथ्वीकाय—असंख्य जीव।
२. अप्काय—असंख्य जीव।
३. तेजस्काय—असंख्य जीव।
४. वायुकाय—असंख्य जीव।
५. वनस्पतिकाय—अनंत जीव।
६. त्रसकाय—असंख्य जीव।

त्रसकाय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पांच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचा

लोक भरा है। स्थूल जीव आधार बिना नहीं रह सकते। इसलिए वे लोक के थोड़े भाग में हैं।

एक-एक काय में कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है—

एक हरे आवले के समान मिट्टी के ढेले में जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाए तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

पानी की बूंद में जितने जीव हैं, उनमें से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

“एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे भी जम्बूद्वीप में नहीं समाते।”

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

### शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारों का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं—

१. एक पाक्षिक-क्रियावाद (भूत-चैतन्यवाद)।
२. मनोदैहिक-सहचरवाद।
३. अन्योन्याश्रयवाद।

भूत-चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है। मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है। श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है। वैसे ही चेतना (आत्मा) मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक संक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—‘चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है।’ इसमें द्व्यर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय

की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रिया शब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, तब पाचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का विचार करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। ये दोनों घटनाएं सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाएं नहीं, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतनाहीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतनाहीन से चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए बटलर ने लिखा है—“आप हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारूद की भांति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान-शून्य हैं। फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कंध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यांत्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएं उत्पन्न हो सकती हैं? क्या फांसी के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित डिफरेंशियल केलकुलस (Differential Calculus) निकल सकता है?....आप मनुष्य की जिज्ञासा का—परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यांत्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई?—संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते।”

पाचन और श्वासोच्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों क्रियाएं स्वयं अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतंत्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नहीं। शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों के कारण माननेवालों के दूसरी आपत्ति

ह आती है कि — “मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हूँ—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनों को पैदा करने वाले हैं” इत्यादि प्रयोग नहीं किये जा सकते ।

‘मनोदैहिक-सहचरवाद’ के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं । इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है । उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारों पर एवं मानसिक व्यापारों का शारीरिक क्रियाओं पर असर होता है । जैसे—

१. मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक शक्ति दुर्बल हो जाती है ।
२. मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है ।

साधारणतया पुरुषों का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस तक का और स्त्रियों का ४४-४८ औंस तक होता है । देश-विदेश के अनुसार इनमें कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है । अपवाद रूप असाधारण मानसिक शक्ति वालों का दिमाग औंसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है । पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है ।

ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियों से मानसिक विकास को सहारा मिलता है ।

४. दिमाग पर आघात होने से स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है ।
५. दिमाग का एक विशेष भाग मानसिक शक्ति के साथ सम्बन्धित है, उसकी क्षति से मानसिक शक्ति में हानि होती है ।

### मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

१. निरन्तर चिन्ता एवं दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है ।
२. सुख-दुःख का शरीर पर प्रभाव होता है ।
३. उदासीन वृत्ति एवं चिन्ता से पाचन-शक्ति मंद हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है । क्रोध आदि से रक्त विषाक्त

बन जाता है ।

इन घटनाओं के अवलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता । इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुँच गए । दोनों शक्तियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया । किन्तु उनके सामने एक उलभन अब तक भी मौजूद है । दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसे ? इसका वे अभी समाधान नहीं कर पाए हैं ।

### दो विसदृश पदार्थों (अरूप और सरूप) का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं । आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप । इस दशा में दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसका समाधान जैन दर्शन में किया गया है । संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से वेष्टित रहता है । एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता । सूक्ष्म शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है । सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त जीव मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नहीं उठता । सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है । अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहाँ पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता—पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता । तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है । इसीलिए संसार-दशा में जीव कथञ्चित् मूर्त भी है । उनका अमूर्त रूप विदेहदशा में प्रकट होता है । यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । किन्तु संसार-दशा में जीव और पुद्गल का कथञ्चित् सादृश्य होता है, इसलिए उसका सम्बन्ध होना असम्भव नहीं । 'अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नहीं हो सकता'—यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, यह उचित है । इनमें क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संबन्ध नहीं हो सकता ।

### विज्ञान और आत्मा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नहीं मानते । उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक है । दूसरे



शब्दों में मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। पावलोफ ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क (सेरेब्रम) के करोड़ों सेलों (Cells) की क्रिया है। बर्गसां जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को पावलोफ मस्तिष्क के सेलों (Cells) की क्रिया बतलाता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खींचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में अतीत के चित्र प्रतिबिम्बित रहते हैं। जब उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नयी प्रेरणा मिलती है तब वे जागृत हो जाते हैं, निम्न स्तर से ऊपरी स्तर में आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्त्वों से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोग के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टायें की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने में उसका अधिकार सम्पन्न नहीं होता। मन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार का होता है।

मनन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान—अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड़ करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं। भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। इसे हम मस्तिष्क का 'औपचारिक ज्ञान-तंतु' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति में परिवर्तन पाया जाए, अर्ध-स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या में उलझे हुए हैं। वे कहते हैं मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है। ऐसा होने पर उसके विचित्र गुण—चेतन-क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नये गुण देखे जाते हैं, जो पहले भौतिक-तत्त्वों में मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है कि उसे बिलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए।

इन पंक्तियों से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय में ही नहीं, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे में भी कितना संदिग्ध है। मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बों का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट की भांति वर्तमान चित्रों को खींच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे स्मृति का साधन भले ही माना जाए, किन्तु इस स्थिति में वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। उसमें केवल घटनाएं अंकित हो सकती हैं, पर उसके पीछे छिपे हुए कारण स्वतंत्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने बिना नहीं जाने जा सकते। 'यह क्यों ? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा'—ज्ञान की इत्यादि क्रियाएं अपना स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट की चित्रावली में नियमन होता है। प्रतिबिम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी नहीं होता। यह नियम मानव-मन पर लागू नहीं होता। वह अतीत की धारणाओं के आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है, भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टांत की भी मानस-क्रिया में संगति नहीं होती।

### आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग

वैज्ञानिकों ने १०२ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्तिमान् हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किए हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यों पर ही किए हैं। अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। उस पर प्रयोग भी नहीं किए जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसीलिए आज के वैज्ञानिक, भौतिक साधन-सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नहीं लगा सके। किन्तु भौतिक साधनों से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता तो उसका नास्तित्व भी नहीं जाना जाता। शरीर पर किए गए विविध प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। रूस के जीव-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् पावलोफ ने एक कुत्ते का दिमाग निकल लिया। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएं स्तब्ध हो गईं।

१. पावलोफ के सिद्धांत को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाएं शारीरिक प्रवृत्ति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृत्ति अभिन्न ही है।

वह अपने मालिक तथा खाद्य तक को नहीं पहचान पाता । फिर भी वह मरा नहीं । इंजेक्शनों द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा । इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है । उसके निकल जाने पर प्राणी में कुछ भी चैतन्य नहीं रहता ।

इस पर हमें अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं । यहां सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नहीं, किन्तु वह मानस प्रवृत्तियों के उपयोग का साधन है । दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाएं रुक गईं, इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी चेतना विलीन हो गई । यदि ऐसा होता तो वह जीवित नहीं रह पाता । खाद्य स्वीकरण, रक्त-संचार, प्राण-अपान आदि चेतनावान् प्राणी में ही होता है । बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं । वह केवल मानस-प्रवृत्ति वाले प्राणी के ही होता है । वनस्पति भी आत्मा है । उनमें चेतना है; हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृत्तियां हैं । पर उनके दिमाग नहीं होता । चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है । जिसमें स्वानुभूति होती है, सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है । फिर चाहे वह अपनी अनुभूति व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिलें या न मिलें । वाणीविहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नहीं होता, यह मानना यौक्तिक नहीं । उसके पास बोलने का साधन नहीं, इसलिए अपना कष्ट कह नहीं सकता । फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नहीं करेगा ? विकास-शील प्राणी मूक होने पर भी अपनी अंग-संचालन-क्रिया से पीड़ा जता सकते हैं । जिनमें यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सकते । इससे स्पष्ट है कि बोलना, अंग-संचालन होते दीखना, चेष्टाओं को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नहीं हैं । ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रस-जातिगत आत्माओं के होते हैं । स्थावर जातिगत आत्माओं में ये स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते । इससे उनकी चेतनता, सुख-दुःखानुभूति का लोप थोड़े ही किया जा सकता है । स्थावर जीवों की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रों में लिखा है—‘जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एवं रोगग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवा तलवार एवं खड्ग से ३२ स्थानों का छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट

होता है वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवों को स्पर्श करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव में वे बता नहीं सकते।' मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही है, इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। जो कुछ भी हो, इस विषय पर हमें इतना-सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी चेतन सत्ता है। वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले कौशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल में शारीरिक अवयवों के परीक्षण द्वारा आत्म-प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए, किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा।

आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसी ही असम्भव चेष्टाएं करते रहेंगे तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत यदि वे चेतना का आनुमानिक एवं स्व-संवेदनात्मक अन्वेषण करें तो इस गुत्थी को अधिक सरलता से सुलभा सकते हैं।

**चेतना का पूर्वरूप क्या है ?**

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करने वाले दार्शनिक चेतना-तत्त्व को अनादि-अनंत मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड की धारणा भी यही है कि जीवन का आरम्भ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् में भी इस विचार की दो धाराएं हैं—

१. वैज्ञानिक लुई पाश्चर और टिंजल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते।

रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिनस्काया, अणु-वैज्ञानिक डॉ॰ डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टेनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालों को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?'—यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि-जीव किन अवस्थाओं में कब और कैसे उत्पन्न हुआ—यह रहस्य आज भी

उनके लिए कल्पना-मात्र है ।

### इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आंख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञात विषय की स्मृति रहती है, इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है । यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता । इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व-ज्ञान विकृत नहीं होता । इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है । वह आत्मा है । इस पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय बिगड़ जाने पर जो पूर्व-ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण है मस्तिष्क, आत्मा नहीं । मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तब तक स्मृति है । उसके बिगड़ जाने पर स्मृति नहीं होती । इसलिए “मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है ।” उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं । यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है । जैसे इन्द्रियां बाहरी वस्तुओं को जानने के साधन हैं, वैसे मस्तिष्क इन्द्रियज्ञान विषयक चितन और स्मृति का साधन है, उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नहीं होती । फिर भी पागल व्यक्ति में चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है । साधनों की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल हो जाती है, नष्ट नहीं होती । मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाएं होती हैं । वे यह बताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है । उसी शक्ति के कारण शरीर के अनुभव और प्राण की क्रिया होती है । मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है । इसे आत्मवादी भी स्वीकार नहीं करते । ‘तन्दुलवे-यालिय’ ग्रन्थ के अनुसार इस शरीर में १६० ऊर्ध्वगामिनी और रसहारिणी शिराएं हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुंचती हैं । वे स्वस्थ होती हैं, तब तक आंख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है । भारतीय आयुर्वेद के मत में भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है—

“प्राणाः प्राणभृतां यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च ।

यदुत्तमाङ्गभङ्गानां, शिरस्तदभिधीयते ॥—चरक

मस्तिष्क चैतन्य सहायक धमनियों का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नहीं होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

### प्रदेश और जीवकोष

आत्मा असंख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नहीं होते। परिपूर्ण असंख्य प्रदेश के समुदाय का नाम जीव है। वह असंख्य जीव-कोषों का पिण्ड नहीं है। वैज्ञानिक असंख्य सेल्स—जीवकोषों के द्वारा प्राणी-शरीर और चेतन का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक सीमित हैं। शरीर अस्थायी है—एक पौद्गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है और वह रूपी है, इसलिए अंगोपांग देखे जा सकते हैं। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है। वह उत्पन्न नहीं होता और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इंद्रिय-शक्ति से देखा नहीं जाता। अतएव जीव-कोषों के द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नहीं हैं। वे स्वयं आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमें उनका आरोप किया गया है। यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमें संगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नहीं रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्गलिक स्कन्धों में मिलते हैं। अतएव उनमें संघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखंड द्रव्य है। उसमें संघात-विघात कभी नहीं होते और न उसके एक-दो-तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाण वाली है। एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है। उसके बिना पट पूरा नहीं बनता। परन्तु एक तन्तु पट नहीं कहा जाता। एक रूप में समुदित तन्तुओं का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नहीं कहा जाता। असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

### अस्तित्व सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता के माध्यम का अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक

उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नहीं मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है। हां, यह निश्चित है कि इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। फिर भी आत्मा के अस्तित्व में यह बाधक नहीं, क्योंकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने में समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आंख घट, पट आदि को देख सकती है, पर जिस समय उचित सामीप्य एवं प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती हैं। आत्मा अपौद्गलिक (अभौतिक) पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियों द्वारा आत्मा को न जान सकना नहीं कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव मानें तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ़-सी आ जाएगी। उनका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह संदेह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि संदेह किया जाता है, तब आत्मवादियों को वह हेतु भी अनात्मवादियों के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाएं कि 'आत्मा नहीं है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—धूम को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है—इसका कारण यही है कि धुआं अग्नि का, आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उसके बिना वे निश्चितरूपेण नहीं होते। चेतन भूत-समुदाय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि भूत जड़ है। भूत और चेतना में अत्यन्ताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता।

लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है— जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी होगा। इसलिए हमें आत्मा की जड़ वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड़ पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह संगत नहीं है। विकास अपने धर्म के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नहीं कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। इसलिए जड़त्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी महाशक्तियों को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्तिसंगत है।

### स्वतंत्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों में न मिलने वाला गुण जिसमें मिले, वह स्वतंत्र द्रव्य होता है। सामान्य गुण जो कई द्रव्यों में मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नहीं होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कहीं नहीं मिलता। अतएव आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है और उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थक्रियाकारित्व और सत्—दोनों षटित होते हैं। पदार्थ वही है जो प्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है जो सत् हो यानी पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा में जानने की क्रिया निरंतर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत में बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं एवं मनुष्य, पशु आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। आत्मा में रूप, आकार एवं वजन नहीं, फिर वह द्रव्य ही क्या? यह निराधार शंका है। क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर लक्षण हैं। सब पदार्थों में उनका होना आवश्यक नहीं होता।

### पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त होने पर भी कुछ नहीं है। पांच भूतों से



प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मांतर करते हैं। पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव में ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी-बड़ी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं। इसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान में जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय में सभी क्रियावादी एकमत हैं। भगवान् महावीर के शब्दों में—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं। गीता कहती है—जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद नये शरीर को धारण करते हैं। यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है। महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पुनर्जन्म में किये हुए प्राणी-वध का विपाक बताया।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है। नव शिशु स्तन-पान करने लगता है। यह पूर्वजन्म में किए हुए आहार के अभ्यास से ही होता है। जिस प्रकार युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्म-देही है।

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःखपूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व

अनुभव-युक्त है। जीवन का मोह और मृत्यु का भय पूर्वबद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पूर्वजन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियाँ नहीं मिलतीं। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने विविध युक्तियों से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नहीं हैं।

दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि—“आत्मा सदा अपने लिए नये-नये वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी।”

दार्शनिक शोपनहार के शब्दों में पुनर्जन्म निःसंदिग्ध तत्त्व है। है। जैसे—“मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे में पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्ट-रूपेण प्रतीत हो जाता है।”

### अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है। अन्तर-काल में स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम ‘अन्तराल-गति’ है। वह दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मृत्यु-स्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहाँ आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा में होता है, वहाँ गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्वशरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व-शरीर-जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नये जन्म-स्थान में पहुँच जाता है। वक्रगति में घुमाव करने पड़ते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह-जनित वेग मंद पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर (कर्मण शरीर) द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं। इसका तर्क-संगत कारण लोक-संस्थान है। सामान्यतः यह लोक ऊर्ध्व, अधः,

तिर्यग्—इन तीन भागों में तथा जीवोत्पत्ति की अपेक्षा त्रस-नाड़ी और स्थावर-नाड़ी, इन दो भागों में विभक्त है ।

द्विसामयिक गति—

ऊर्ध्वलोक की पूर्व दिशा से अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन्न होने वाले जीव की गति एकवक्रा द्विसामयिकी होती है । पहले समय में समश्रेणी में गमन करता हुआ जीव अधोलोक में जाता है और दूसरे समय में तिर्यग्वर्ती अपने उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुँच जाता है ।

त्रिसामयिकी गति—

ऊर्ध्व दिशावर्ती अग्निकोण से अधोदिशावर्ती वायव्य कोण में उत्पन्न होने वाले जीव की गति द्विवक्रा त्रिसामयिकी होती है । पहले समय में जीव समश्रेणी गति से नीचे आता है, दूसरे समय में तिरछा चलकर पश्चिम दिशा में और तीसरे समय में तिरछा चलकर वायव्य कोण में अपने जन्म-स्थान पर पहुँच जाता है ।

स्थावर-नाड़ी गत अधोलोक की विदिशा के इस पार से उस पार की स्थावर-नाड़ी गत ऊर्ध्वलोक की दिशा में पैदा होने वाले जीव की 'त्रिवक्रा चतुः सामयिकी' गति होती है । एक समय अधोवर्ती विदिशा से दिशा में पहुँचने में, दूसरा समय त्रस-नाड़ी में प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रस-नाड़ी से निकल उस पार स्थावर नाड़ी गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुँचने में लगता है । आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती, किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती । अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती ।

जन्म-व्युत्क्रम और इंद्रिय—

आत्मा का एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होना संक्रांतिकाल है । उसमें आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति कैसे रहती है. इस पर हमें कुछ विचार करना है । अन्तराल-गति में आत्मा के स्थूल-शरीर नहीं होता । उसके अभाव से आँख, कान, नाक आदि इंद्रियां नहीं होतीं । वैसी स्थिति में जीव का जीवत्व कैसे टिका रहे ? कम से कम एक इंद्रिय की ज्ञानमात्रा तो प्राणी के लिए अनिवार्य है । जिसमें

यह नहीं होती, वह प्राणी भी नहीं होता। इस समस्या को शास्त्र-कारों ने स्याद्वाद के आधार पर सुलझाया है।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! एक जन्म से दूसरे जन्म में व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन-इन्द्रिय ?

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से जीव अन-इन्द्रिय व्युत्क्रांत होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा से स-इन्द्रिय।

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियां नहीं होतीं। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है। किंतु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय-शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यता वाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियां नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय आदि जातियों में क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र की रचना होती है। दोनों प्रकार की इन्द्रियों के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

### स्व-नियमन

जीव स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नहीं, किंतु संचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से होती है। उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है—जीवप्रभव शरीर, शरीर-प्रभव वीर्य, वीर्यप्रभव योग (मन, वाणी और कर्म)।

वीर्य दो प्रकार का होता है—लब्धि-वीर्य और करण-वीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते हैं। करण-वीर्य क्रियात्मक शक्ति है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है।

जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का संग्रह या स्वीकरण करता है। वह पौद्गलिक कर्म का संग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृंखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वयं का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियंत्रित नहीं, किन्तु क्रिया-नियंत्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलों का संचय कर जीव भारी बन जाते हैं। इनकी विरक्ति करने वाला जीव कर्म-पुद्गलों का संचय नहीं करता, इसलिए वह भारी नहीं बनता।

जीव कर्म के भार से जितना अधिक भारी होता है, वह उतनी ही अधिक निम्नगति में उत्पन्न होता है और हल्का उर्ध्वगति में। गुरुकर्मा जीव इच्छा न होने पर भी अधोगति में जायेगा। कर्म-पुद्गलों को, उसे कहां ले जाना है, यह ज्ञान नहीं होता। किंतु पर-भव-योग्य आयुष्य कर्म-पुद्गलों का जो संग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानी वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओं की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नहीं करते। वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने होते हैं, उसी स्थान पर जीव को घसीट ले जाते हैं। उन पुद्गलों की गति उनकी रासायनिक क्रिया (रस-बंध या अनुभाग-बंध) के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म में गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

## कर्म

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जगत् की विभक्ति, विचित्रता और साधन-तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना' सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देश-मात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य-कारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है।

जैन-दर्शन कर्म को स्वतंत्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बन्ध जाते हैं, यह उनकी बध्य-मान (बंध) अवस्था है। बंधने के बाद उनका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःखरूप तथा आवरणरूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं। बंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—ये चार प्रकार हैं।

उदीरणा—कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वतन—कर्म की

स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक-दूसरे के रूप में बदलना, आदि-आदि अवस्थाएं जैनों के कर्म-सिद्धांत के विकास की सूचक हैं।

बन्ध के कारण क्या है ? बंधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित ? कर्म जिस रूप में बंधते हैं उस रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे ? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारों ने विस्तृत विवेचन किया है।

### आत्मा का आंतरिक वातावरण

पदार्थ के असंयुक्त रूप में शक्ति का तारतम्य नहीं होता। दूसरे पदार्थ से संयुक्त होने पर ही उसकी शक्ति न्यून या अधिक बनती है। दूसरा पदार्थ शक्ति का बाधक होता है, वह न्यून हो जाती है। बाधा हटती है, वह प्रकट हो जाती है। संयोग-दशा में यह ह्रास-विकास क्रम चलता ही रहता है। असंयोग-दशा में पदार्थ का सहज रूप प्रकट हो जाता है, फिर उसमें ह्रास या विकास कुछ भी नहीं होता।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (संयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नहीं। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है, वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है। शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किंतु ऐसा नहीं होता। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के भाव सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म-पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती

घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म-संघटना तक ही है। उससे कर्म-संघटना प्रभावित होती है, फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

### परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है, यह एकांगी-दृष्टिकोण मिथ्या है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ होता है, यह सापेक्ष-दृष्टिकोण सत्य है।

वर्तमान के जन-मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक अनेकांत-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकांतवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कम से नहीं होता, कर्म के विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म-उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियाँ हैं, वे सब कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वह संयोग कृत होता है तब विभाग रूप होता है और यदि दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

### कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ संस्कार या दासनारूप मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं बनता।' आत्मा का गुण उसके



लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे बने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है, गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मनुष्य बंधता है। सुरापान से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये बेड़ी आदि बाहरी बंधन अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कंध हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा से वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उसको भोगनेवाली इन्द्रियां मूर्त हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त हैं।

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश-रूप हो जाता है।

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन में कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण या जीव और कर्म-परमाणुओं का एकीभाव) होता है।

कर्म के हेतुओं को भाव-कर्म या 'मल' और कर्म-पुद्गलों को द्रव्य-कर्म या 'रज' कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव-कर्म तीव्र होता है।

### आत्मा और कर्म का संबंध

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता ? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएं कथंचित् मूर्त हैं अर्थात् निश्चयदृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वे संसार-दशा में मूर्त होती हैं। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्म-मुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्म-बद्ध आत्मा के ही कर्म बंधते हैं—उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यों का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

### बंध के हेतु

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बंध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है।

गौतम ने पूछा—'भगवन् ! जीव कांक्षा-मोहनीय कर्म बांधता है ?'

भगवान्—'गौतम ! बांधता है।'

गौतम—‘भगवन् ! वह किन कारणों से बांधता है ?’

भगवान्—‘गौतम ! उसके दो हेतु हैं—प्रमाद और योग ।’

गौतम—‘भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?’

भगवान्—‘योग से ।’

गौतम—‘योग किससे उत्पन्न होता है ?’

भगवान्—‘वीर्य से ।’

गौतम—‘वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?’

भगवान्—‘शरीर से ।’

गौतम—‘शरीर किससे उत्पन्न होता है ?’

भगवान्—‘जीव से ।’

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है । क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है । शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षामोहनीय) का बंध करता है । स्थानांग और प्रज्ञापना में कर्मबंध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण बतलाए हैं ।

## बंध

माकंदिकपुत्र ने पूछा—‘भगवन् ! भाव-बंध कितने प्रकार का है ?’

भगवान् ने कहा—‘माकंदिकपुत्र ! भाव-बंध दो प्रकार का है—मूल-प्रकृति-बंध और उत्तर-प्रकृति-बंध ।’

बंध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है । वह चार प्रकार की है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ।

### १. प्रदेश

बन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्माण—व्यवस्थाकरण । ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं । ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं । यह प्रदेश-बंध (या एकीभाव की व्यवस्था) है ।

### २. प्रकृति

वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं । इसका नाम प्रकृति-बंध (स्वभाव-व्यवस्था) है । कर्म की मूल प्रकृतियां (स्वभाव) आठ हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण,

३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र, अन्तराय ।

### ३. स्थिति

यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है । प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है । स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है । यह स्थिति-बंध है ।

### ४. अनुभाग

यह फलदान-शक्ति की व्यवस्था है । इसके अनुसार उन पुद्गलों में रस की तीव्रता और मंदता का निर्माण होता है । यह अनुभाग-बंध है ।

बंध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं । कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं । आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश-बंध' सबसे पहला है । इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है । इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस-शक्ति वाला पुद्गल समूह अमुक-अमुक परिमाण में बंट जाता है । यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश-बंध है । बंध वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव-निर्माण है । स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है । परिमाण-विभाग इसका अन्तिम विभाग है ।

### कर्म : स्वरूप और कार्य

इनमें चार कोटि की पुद्गल-वर्णणाएं चेतना और आत्म-शक्ति की आवारक, विकारक और प्रतिरोधक हैं । चेतना के दो रूप हैं—

१. ज्ञान—जानना, वस्तु-स्वरूप का विमर्श करना ।

२. दर्शन—साक्षात् करना, वस्तु का स्वरूप-ग्रहण ।

ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्गल क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं ।

आत्मा को विकृत बनाने वाले पुद्गलों की संख्या 'मोहनीय' है ।

आत्मशक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्गल अन्तराय कहलाते हैं । ये चार घात्यकर्म हैं ।

वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघात्यकर्म हैं।

घात्यकर्म के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारों कर्म अशुभ ही होते हैं। इसके आंशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आंशिक मात्रा में उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय से आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है।

वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। अशुभकर्म अनिष्ट-संयोग और शुभ-कर्म इष्ट-संयोग के निमित्त बनते हैं। इन दोनों का जो संगम है, वह संसार है। पुण्य-परमाणु सुख-सुविधा के निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति नहीं होती। ये पुण्य और पाप—दोनों बन्धन हैं। मुक्ति इन दोनों के क्षय से होती है।

वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—सात वेदनीय और असात वेदनीय। ये क्रमशः सुखानुभूति और दुःखानुभूति के निमित्त बनते हैं। इनका क्षय होने पर अनन्त आत्मिक आनन्द का उदय होता है।

नाम-कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेयवचन, यशस्वी और विशाल व्यक्तित्व वाला होता है तथा अशुभ नाम के उदय से इसके विपरीत होता है। इनके क्षय होने पर आत्मा अपने नैसर्गिक भाव—अमूर्तिक-भाव में स्थित हो जाता है। गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये क्रमशः उच्चता और नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अगुरु-लघु—पूर्ण सम बन जाता है।

आयुष्य के दो प्रकार हैं—शुभ आयु और अशुभ आयु। ये क्रमशः सुखी-जीवन और दुःखी जीवन के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन जाता है।

ये चारों भवोपग्राही कर्म हैं। इनके परमाणुओं का वियोग मुक्ति होने के समय एक साथ होता है।

### बंध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर-जगत् के साथ जो

सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होता है उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन्न अचेतन वस्तुओं में भी होता है, किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन्न नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वगणा द्वारा निर्मित कंपन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसा क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक शक्ति-जनित कंपन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आश्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म-योग्य परमाणु कर्म-रूप में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया को बंध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बंध आश्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आश्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बंध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं, एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-वर्म के उदय-काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है।

**कर्म कौन बांधता है?**

अकर्म के कर्म का बंध नहीं होता। पूर्व-कर्म से बंधा हुआ

जीव ही नये कर्मों का बंध करता है।

मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है। तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है।

मोह-रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर-नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बंध करता है।

नये बन्धन का हेतु पूर्व-बन्धन न हो तो अबद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बंधे बिना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, नये सिरे से नहीं।

गौतम ने पूछा—भगवान् ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी जीव नहीं करता।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! कर्म कौन बांधता है ? संयत, असंयत अथवा संयतासंयत ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! असंयत, संयतासंयत और संयत—ये सब कर्म-बंध करते हैं। दसवें गुणस्थान तक के अधिकारी पुण्य और पाप दोनों का बंध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक के अधिकारी केवल पुण्य का बंध करते हैं।

**कर्म बंध कैसे ?**

गौतम—भगवन् ! जीव कर्म-बंध कैसे करता है ?

भगवान्—गौतम ! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है।

कर्म-बन्ध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप में कषाय के दो भेद ह—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ।

**फल विपाक**

एक समय की बात है। भगवान् राजगृह के गुणशील नामक

चैत्य में समवसृत थे । उस समय कालोदायी अनगार भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर बोले—‘भगवन् ! जीवों के किए हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है ?’

भगवान्—‘कालोदायी ! होता है ।’

कालोदायी—‘भगवन् ! यह कैसे होता है ?’

भगवान्—‘कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन), आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणामभद्र नहीं होता । कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपातभद्र और परिणाम-विरस होते हैं । कालोदायी ! इस प्रकार पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं ।’

कालोदायी—‘भगवन् ! जीव के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?’

भगवान्—‘कालोदायी ! होता है ।’

कालोदायी—‘भगवान् यह कैसे होता है ?’

भगवान्—‘कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नहीं लगता, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है । वह परिणाम-भद्र होता है । कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती किन्तु परिणाम-भद्र होती हैं । कालोदायी ! इस प्रकार कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं ।’

**कर्म के उदय से क्या होता है ?**

१. ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता, जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता । जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नहीं जानता । उसका ज्ञान आवृत हो जाता है । इसके अनुभाव दस हैं—श्रोत्रावरण, श्रोत्र-विज्ञानावरण, नेत्रावरण, नेत्र-विज्ञानावरण, घ्राणावरण, घ्राण-



विज्ञानावरण, रसावरण, रस-विज्ञानावरण, स्पर्शावरण, स्पर्श-विज्ञानावरण ।

२. दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य विषय को नहीं देखता, देखने का इच्छुक होने पर भी नहीं देखता । उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है । इसके अनुभाव नौ हैं—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानद्धि, चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण ।

३. सातवेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है । इसके अनुभाव आठ हैं—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गंध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनःसुखता, वाक्-सुखता, काय-सुखता ।

असातवेदनीय कर्म के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है । इसके अनुभाव आठ हैं—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ गंध, अमनोज्ञ स्पर्श, मनोदुःखता, वाक्-दुःखता, काय-दुःखता ।

४. मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन बनता है । इसके अनुभाव पांच हैं—सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय ।

५. आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है । इसके अनुभाव चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु ।

६. शुभ नामकर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है । इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गंध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यश-कीर्ति, इष्ट उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम, इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता ।

अशुभ नामकर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है । इसके अनुभाव चौदह हैं—अनिष्ट शब्द, अनिष्ट रूप, अनिष्ट गंध, अनिष्ट रस, अनिष्ट स्पर्श, अनिष्ट गति, अनिष्ट स्थिति, अनिष्ट लावण्य, अनिष्ट यशो-कीर्ति, अनिष्ट उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम, अनिष्ट स्वरता, हीन स्वरता, दीन स्वरता, अमनोज्ञ स्वरता ।

७. उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपो-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता ऐश्वर्य-विशिष्टता।

नीच-गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विहीनता, कुल-विहीनता, बल-विहीनता, रूप-विहीनता, तपो-विहीनता, श्रुत-विहीनता, लाभ-विहीनता, ऐश्वर्य-विहीनता।

८. अन्तराय कर्म के उदय से आत्म-शक्ति का प्रतिघात होता है। इसके अनुभाव पांच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

### फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है, तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बनाया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन-दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है, कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग वा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खाने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिलता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान-शक्ति के बारे में कोई संदेह नहीं रहता।

### उदय

उदय का अर्थ है—काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है—यह उसका अनुदय

है। दूसरी की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बंधे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थन हो जाते हैं, तब उनके निषेक (कर्म-पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रकट होने लगते हैं, वह उदय है।

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—

१. प्राप्त-काल कर्म का उदय।

२. अप्राप्त-काल कर्म का उदय।

कर्म का बंध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं होती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। कर्म की यह अवस्था 'अबाधा' कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान-मात्र होता है, किन्तु उसका कर्तृत्व प्रकट नहीं होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान काल है। 'अबाधा' का अर्थ है—अन्तर। बंध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह 'अबाधाकाल' है।

'अबाधाकाल' के द्वारा स्थिति के दो भाग होते हैं—

१. अवस्थानकाल।

२. अनुभव या निषेक-काल।

आबाधा-काल के समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अबाधा-काल पूरा होने पर होता है। जितना अबाधाकाल होता है, उतना अनुभव-काल से अवस्थान-काल अधिक होता है। अबाधाकाल को छोड़कर विचार किया जाए तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये दोनों समकाल मर्यादा वाले होते हैं। चिरकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तपस्या के द्वारा विफल बना थोड़े समय में भोग लिये जाते हैं। आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। वह प्राप्त काल उदय है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय में आयें तो आकस्मिक घटनाओं की सम्भावना तथा तपस्या की प्रायोजकता ही नष्ट हो जाती है। इसलिए आकस्मिक घटनाएं भी सिद्धांत के प्रति संदेह पैदा नहीं करतीं। तपस्या की सफलता का भी यही हेतु है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय—

कर्म का परिपाक और उदय अपने-आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी, सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई

बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने-आप क्रोध आ गया—यह उनका निहेतुक उदय है। इसी प्रकार हास्य, भय, वेद (विकार) और कषाय के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है।

**अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु**

गति-हेतुक उदय—नरक गति में असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक उदय—मोह कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक उदय है।

भव-हेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सबके होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नारक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतुक-विपाक-उदय है।

गति-स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने-आप विपाक-उदय हो आता है।

**दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म-हेतु**

पुद्गल-हेतु उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—भोजन किया, वह पचा नहीं, अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ। यह असात-वेदनीय का विपाक उदय है।

मदिरा पी, उन्माद छा गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणाम हेतुक विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है। अगर ये हेतु नहीं मिलते तो उन कर्मों का विपाक-रूप उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है प्रदेश-उदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म बन्ध होता है, वह अवश्य

भोगा जाता है ।

गौतम ने पूछा—‘भगवन् ! किए हुए पाप-कर्म भोगे बिना नहीं छूटते । क्या यह सच है ?’

भगवान्—‘हां, गौतम ! यह सच है ।’

गौतम—‘कैसे, भगवन् ?’

भगवान्—‘गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—प्रदेश-कर्म और अनुभाग-कर्म । जो प्रदेश-कर्म हैं वे नियमतः (अवश्य ही) भोगे जाते हैं । जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते ।’

### पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है । उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं ।

क्रिया शुभ होती है तो शुभ-कर्म परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभ-कर्म परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं । शुभ कर्म परमाणु पुण्य और अशुभ कर्म परमाणु पाप कहलाते हैं । पुण्य और पाप—दोनों विजातीय तत्त्व हैं । इसलिए ये दोनों आत्मा की पर-तंत्रता के हेतु हैं । आचार्यों ने पुण्य कर्म को सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है ।

स्वतंत्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं । मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र्य) है । जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जानता, वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है । निश्चय-दृष्टि से ये दोनों हेय हैं ।

पुण्य की हेयता के बारे में जैन-परम्परा एकमत है । उसकी उपादेयता में विचार-भेद भी है । कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर-हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं । कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नहीं मानते ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करने वाली विचारधारा को पर-समय माना है ।

योगीन्दु कहते हैं—“पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है । इसलिए हमें वह नहीं चाहिए ।”

टीकाकार के अनुसार यह क्रम उन्हीं के लिए है, जो पुण्य

की आकांक्षा (निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म-शुद्धि के लिए तप तपने वालों के अवांछित पुण्य का आकर्षण होता है। उनके लिए यह क्रम नहीं है। वह उन्हें बुद्धि-विनाश की ओर नहीं ले जाता।

पुण्य काम्य नहीं है। योगीन्दु के शब्दों में—“वे पुण्य किस काम के जो राज्य देकर जीव को दुःख-परम्परा की ओर ढकेल दें। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए, यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे, वह अच्छा नहीं है।

आत्म-साधना के क्षेत्र में पुण्य की सीधी उपादेयता नहीं है, इस दृष्टि से पूर्ण सामंजस्य है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), प्रायश्चित्त को पुण्य-बन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है।

आचार्य भिक्षु ने कहा है—“पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है।” आगम कहते हैं—“इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो।” यही बात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।” क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण के हेतु हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—“पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है।” “जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परि-भ्रमण करता है।” गीता भी यही कहती है—“बुद्धिमान सुकृत और दुष्कृत दोनों छोड़ देता है।” अभयदेवसूरि ने आस्रव, बन्ध, पुण्य और आप को संसार-भ्रमण का हेतु कहा है। आचार्य भिक्षु ने इस प्रकार समझाया है—“पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।”

इसका निगमन यह है कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास।

भारतीय दर्शनों का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुषंगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य है। इसी सिद्धांत को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनों पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ में बात यह नहीं है। सामाजिक व्यक्ति अभ्युदय की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं? यह सच है कि भारतीय एकान्त भौतिकता से बहुत बचे हैं। उन्होंने प्रेय और श्रेय को एक नहीं माना। अभ्युदय को ही सब कुछ मानने वाले भौतिकवादियों ने युग को कितना जटिल बना दिया, इसे कौन अनुभव नहीं करता?

### मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ, किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

### कोरा पुण्य

कई आचार्य पाप-कर्म का विकर्षण किए बिना ही पुण्य-कर्म का आकर्षण होना मानते हैं, किंतु यह चिन्तनीय है। प्रवृत्ति मात्र में आकर्षण और विकर्षण दोनों होते हैं। श्वेताम्बर आगमों में इसका पूर्ण समर्थन मिलता है।

गौतम ने पूछा—‘भगवन् ! श्रमण को वंदन करने से क्या लाभ होता है?’

भगवान् ने कहा—‘गौतम ! श्रमण को वंदन करने वाला नीच गौत्र-कर्म को खपाता है और उच्च गोत्र-कर्म का बन्ध करता है।’

यहां एक शुभ प्रवृत्ति से पाप-कर्म का क्षय और पुण्य-कर्म का बंध—इन दोनों कार्यों की निष्पत्ति मानी गयी है। तर्क-दृष्टि से भी यह मान्यता अधिक संगत लगती है।

### धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक-दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा

में ये कभी एक नहीं होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेष-हीन परिणति है और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल है। दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा का पर्याय है और पुण्य पुद्गल का पर्याय है।

दूसरी बात—निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है और पुण्य का फल है।

तीसरी बात—धर्म आत्म-शुद्धि (आत्म-मुक्ति) का साधन है और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है।

अधर्म और पाप की यही स्थिति है। वे दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे सत्प्रवृत्ति रूप धर्म के साहचर्य से पुण्य की उत्पत्ति होती है, वैसे अधर्म और पाप के साहचर्य से पापकी उत्पत्ति होती है। पुण्य-पाप फल हैं। जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उनके साथ चिपकने वाले पुद्गल हैं और ये दोनों धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं।

जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म या अधर्म, सत् या असत्। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बंध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम पर निर्भर है। शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्त्रव है। अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-परिग्रह, योग-ऋजुता आदि-आदि पुण्य-बन्ध के हेतु हैं। ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धांतचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य ने शुभभाव-युक्त जीव को पुण्य और अशुभभाव-युक्त जीव को पाप कहा है। अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, वह पुण्य है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

कहीं-कहीं पुण्य-हेतुक सत्प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा गया है। यह कारण में कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष-दृष्टिकोण है।

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है। जैसे—धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होने पर उनके तीन फल होते हैं—जाति,



आयु और भोग । ये दो प्रकार के हैं—सुखद और दुःखद । जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद और जिनका हेतु पाप होता है, वे दुःखद होते हैं ।

**पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है**

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवन्ध्य कभी नहीं होता । अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी । वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता । वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है ।

कर्म की बन्धन और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होतीं तो कर्मों का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते । परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता । कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

१. अपवर्तन के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है ।

२. उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है ।

३. उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आनेवाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय में आ जाते हैं ।

४. एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है । एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है । एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है । एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है । जो कर्म शुभ रूप में बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है । जो कर्म शुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है । जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है । जो कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला है । कर्म के बंध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का

प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बंध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—१. प्रकृति-संक्रमण, २. स्थिति-संक्रम, ३. अनुभाव-संक्रम, ४. प्रदेश-संक्रमण।

प्रकृति-संक्रम से पहले बंधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और संक्रमण—ये चारों उदयावलिका (उदयक्षण) के बहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता है। पुरुषार्थ के सिद्धांत का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नहीं होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

**आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?**

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—बन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। कर्म ग्रहण करने में जीव स्वतंत्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमाद-वश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतंत्र नहीं है। इच्छा से गिरना नहीं चाहता, फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है और उसका परिणाम भोगने में परतंत्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किंतु उसके फलस्वरूप होने वाले अजीर्ण से नहीं बच सकता। कर्म-फल भोगने में जीव स्वतंत्र नहीं है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतंत्र भी होते हैं। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों को बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—

१. निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता है ।

२. दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है ।

दूसरे शब्दों में १. निरुपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नहीं होता, इसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता । २. सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है ।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा से जीव कर्म के अधीन ही होता है । दलिक की अपेक्षा से दोनों बातें हैं—जहां जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहां वह उस कर्म के अधीन होता है और जहां जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीर-बल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है वहां कर्म उसके अधीन होता है । उदय-काल से पूर्व कर्म को उदय में ला, तोड़ डालना, उसकी स्थिति और रस को मंद कर देना, यह सब इस स्थिति में हो सकता है । यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ नहीं रहता । पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है । पातंजल-योगभाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियां बताई हैं । उनमें कई कर्म बिना फल दिए ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं । एक गति यह है । इसी को जैन-दृष्टि में उदीरणा कहा है ।

### उदीरणा

गौतम ने पूछा—

‘भगवन् ! जीव उदीर्ण-कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?’

भगवान् ने कहा—

‘गौतम ! जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता ।

जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता ।

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य की उदीरणा

करता है ।

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत-कर्म की उदीरणा नहीं करता ।'

१. उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की फिर से उदीरणा करे तो उस उदीरणा की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती । इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है ।

२. जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं होने वाली है, उन अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती ।

३. जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर पश्चात्-कृत), वे सामर्थ्य-हीन बन गए, इसलिए उनकी भी उदीरणा नहीं होती ।

४. जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा योग्य) हैं, उन्हीं की उदीरणा होती है ।

### उदीरणा का हेतु

कर्म के स्वाभाविक उदय में नये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती । बन्ध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय में आ जाते हैं । उदीरणा द्वारा उन्हें स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है । इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है ।

गौतम ने पूछा—'भगवन् ! अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नहीं करता ।'

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है । पुरुषार्थ द्वारा कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है ।

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है । 'करण' का अर्थ है 'योग' । योग के तीन प्रकार हैं—

१. शारीरिक व्यापार ।

२. वाचिक व्यापार ।

३. मानसिक व्यापार ।

उत्थान आदि इन्हीं के प्रकार हैं । योग शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार का होता है । आस्रव-चतुष्टय में अप्रवृत्ति शुभ योग और आस्रव-चतुष्टय में प्रवृत्ति अशुभ योग । शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है । वह उदीरणा का हेतु है । क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है । उससे भी उदीरणा होती है ।

**वेदना**

गौतम—‘भगवन् ! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवंभूत वेदना (जैसे कर्म बांधा वैसे ही) भोगते हैं—यह कैसे है ?’

भगवान्—‘गौतम ! अन्ययूथिक जो एकान्त कहते हैं, वह मिथ्या है । मैं इस प्रकार कहता हूँ—कुछ जीव एवंभूत-वेदना भोगते हैं और कुछ अन-एवंभूत वेदना भी भोगते हैं ।’

गौतम—‘भगवन् ! यह कैसे ?’

भगवान्—‘गौतम ! जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवंभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं वे अन-एवंभूत वेदना भोगते हैं ।’

गौतम ने पूछा—‘भगवन् ! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्गलों का भेद और उदीरणा करते हैं ?’

भगवान् ने कहा—‘गौतम ! नैरयिक जीव कर्म-पुद्गल की अपेक्षा से अणु और बाह्य (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्गलों के भेद और उदीरणा करते हैं । इसी प्रकार चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपर्वतन, संक्रमण, निघत्ति और निकाचन करते हैं ।’

गौतम ने पूछा—‘भगवन् ! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्गलों का ग्रहण अतीत काल में करते हैं, वर्तमान काल में करते हैं या अनागत काल में करते हैं ?’

भगवान् ने कहा—‘गौतम ! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्गलों का ग्रहण अतीत काल में नहीं करते, वर्तमान काल में करते हैं । अनागत काल में नहीं करते ।’

गौतम ने पूछा—‘भगवन् ! नैरयिक जीव अतीत में ग्रहण

किए हुए तेजस और कर्मण पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? ग्रहण-समय पुरस्कृत—वर्तमान से अगले समय में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! वे अतीत काल में ग्रहण किए हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं। वे न वर्तमान काल में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण-समय-पुरस्कृत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं।'

इसी प्रकार वेदना और निर्जरा भी अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की होती है।

### निर्जरा

संयोग का अंतिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनों भिन्न हैं। वियोग में आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका संयोग होता है, तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं। अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है।

कोई फल डाली पर पककर टूटता है और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, किंतु पकने की प्रक्रिया दोनों की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से कर्म-परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी-निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है, इसके लिए कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ प्रयत्न है। वह धर्म है। धर्म-हेतुक निर्जरा नव तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष इसी का उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा-भेद है, स्वरूप-भेद नहीं। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय। अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनों को भी निर्जरा कहा जाता है। इसके बारह प्रकार इसी दृष्टि के आधार पर किए गए हैं। इसके सकाम और अकाम—इन दो भेदों का आधार भी वही दृष्टि है। वस्तुतः सकाम और अकाम तप होता है, निर्जरा नहीं। निर्जरा आत्म-शुद्धि है। उसमें मात्रा का तारतम्य होता है, किंतु स्वरूप का भेद नहीं होता।

### कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे-कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। किंतु इससे मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

कर्म-संबंध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मंद होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मंद हो जाती है।

जैसे-जैसे कषाय मंद होता है वैसे-वैसे निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बंध शिथिल होता जाता है। वीतराग के केवल दो समय की स्थिति का बंध होता है। पहले क्षण में कर्म-परमाणु उसके साथ संबंध करते हैं, दूसरे क्षण में भोग लिए जाते हैं और तीसरे क्षण में वे उससे बिछुड़ जाते हैं।

चौदहवीं भूमिका में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। वहां केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बंध नहीं होता। अबंध-दशा में आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाता है।

मुक्त होने वाले साधक एक ही श्रेणी के नहीं होते। स्थूल-दृष्टि से उनको चार श्रेणियां प्रतिपादित हैं—

१. प्रथम श्रेणी के साधकों के कर्म का भार अल्प होता है। उनका साधना-काल दीर्घ हो सकता है। पर उनके लिए कठोर तप करना आवश्यक नहीं होता और न उन्हें असह्य कष्ट सहना होता है। वे सहज जीवन बिता मुक्त हो जाते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में भरत चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

२. दूसरी श्रेणी के साधकों के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल भी अल्पतर होता है। वे अत्यल्प तप और अत्यल्प कष्ट का अनुभव कर सहज भाव से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा का नाम उल्लेखनीय हैं।

३. तीसरी श्रेणी के साधकों के कर्म-भार महान् होता है। उनका साधना-काल अल्प होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव कर मुक्त होते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में वासुदेव कृष्ण के भाई गजसुकुमार का नाम उल्लेखनीय है।

४. चौथी श्रेणी के साधकों के कर्म-भार महत्तर होता है। उनका साधना-काल दीर्घतर होता है। वे घोर तप और कष्ट सहन कर मुक्त होते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

**अनादि का अंत कैसे ?**

जो अनादि होता है, उसका अंत नहीं होता, ऐसी दशा में अनादिकालीन कर्म-संबंध का अंत कैसे हो सकता है ? यह ठीक है, किंतु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अंत नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से संबंध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह लागू नहीं भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अंत होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का संबंध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-संबंध का अंत होता है। यह ध्यान रहे कि इसका संबंध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि-सहित होते हैं। कोई



भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

### लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, अचेतन स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका अचेतन (पुद्गल) के साथ गहरा संसर्ग रहता है। इसीलिए अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाते हैं। लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण पौद्गलिक लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है; जैसे—कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि-आदि।

लेश्याएं छह हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं।

खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन' यह उक्ति निराधार नहीं है। शरीर और मन दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक-दूसरे की क्रिया का एक-दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता। 'जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है'—इस सिद्धांत से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् में भी यही बात पाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है।

पौद्गलिक विकारों (द्रव्य लेशयाओं) के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का विवरण इस प्रकार है—

लेश्या	वर्ण	रस	गंध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त- गुण कटु	मृत सर्प की गंध से	गाय की जीभ से
नील	नीलम के समान नीला	गुण तीक्ष्ण सोंठ से अनन्त	अनन्त गुण अनिष्ट गंध	अनन्तगुण कर्कश
कापीत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगुल-सिंदूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि-कुसुम की गंध से	मखन से
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ट	अनन्तगुण इष्ट गंध	अनन्तगुण सुकुमार
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट		

पौद्गलिक विचार (द्रव्यलेश्या) के साथ चैतसिक विचार (भावलेश्या) का गहरा संबंध है। चैतसिक विचार के अनुरूप पौद्गलिक विचार होते हैं अथवा पौद्गलिक विचार के अनुरूप चैतसिक विचार होते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। चैतसिक विचार की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह के उदय से या उसके विलय से। औदयिक चैतसिक विचार अप्रशस्त होते हैं और विलय-जनित चैतसिक विचार प्रशस्त होते हैं।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त तथा तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याएं तथा तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्याएं हैं।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय होने का मूल कारण मोह का अभाव या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। मोह का भाव-अभाव तथा पौद्गलिक विचार—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं।

जैनतर ग्रंथों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएं बतलाई गई हैं। पातंजलयोग में वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातियां भाव-लेश्या की श्रेणी में आती हैं। सांख्यदर्शन तथा श्वेताश्वतरोप-निषद् में रज, सत्त्व और तमोगुण को लोहिन, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्यलेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

**कर्मों का संयोग और वियोग : आध्यात्मिक विकास और ह्रास**

इस विश्व में जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु

का स्वभाव है। 'नहीं होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नहीं है। वस्तुएं तीन प्रकार की हैं—

१. अचेतन और अमूर्त—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।
२. अचेतन और मूर्त—पुद्गल।
३. चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओं का होना—परिणमन—स्वाभाविक ही होता है और वह सतत प्रवहमान रहता है।

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है, उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य संसार है, वह सब या तो जीव-शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव में स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनों में समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके संस्थान—आकार का होता है। वह चेतनाशील नहीं, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गल जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाएं और अनुभूतियां बनती हैं। वह दार्शनिक चिंतन का एक मौलिक विषय बन जाता है।

### वर्ष १९६०-६१ के प्रश्न पत्र

१. “दार्शनिकों का ध्येयवाद” भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिकों का “विकासवाद” अतीत को। इसकी समीक्षा कीजिए। १०
२. प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान, संख्या व कुल-कोटि का वर्णन करो। १०
३. वनस्पति के जीवों में अव्यक्त दस संज्ञाओं का उदाहरण सहित उल्लेख करो। १०
४. मनुष्य के जीवन पर प्रभाव के निमित्त कौन-कौन-से हैं? वर्णन करो। १०
५. गर्भ की परिभाषा, वर्ग, मानुषी गर्भ के विकल्प, स्थिति, प्रभाव आदि को अपने शब्दों में उल्लेखित करो। १०
६. जीव के चवदह भेद और उनका आधार क्या है? १०
७. क्रियावाद और अक्रियावाद पर अपने विचार प्रकट करो। १०
८. आत्मा के अस्तित्व के साधक तर्क क्या हैं? वर्णन करो? १०
९. इन विषयों पर लघुकाय निबन्ध लिखें :— २०
  १. पुनर्जन्म, २. अन्तरकाल, ३. जातिस्मृति ज्ञान, ४. अतीन्द्रिय ज्ञान, ५. मुक्त आत्मा।

### वर्ष १९६१-६२ के प्रश्न पत्र

१. वस्तुएं कितने प्रकार की होती हैं व उसके परिणामन की क्या प्रक्रिया है? १०
२. ‘लेश्या’ का अर्थ, प्रकार, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श पर लघु निबन्ध लिखें। १०
३. कर्म-मुक्ति की क्या प्रक्रिया है व मुक्त होने वाले साधकों की कितनी श्रेणियां हैं? १०
४. ‘कर्म की उदीरणा’ पर जैन सिद्धान्त के संबंध में अपने विचार प्रकट करें। १०
५. टिप्पणी करें—
  - (क) पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है।
  - (ख) धर्म और पुण्य पृथक् तत्त्व हैं।
  - (ग) पुद्गल हेतु व पुद्गल परिणाम हेतु कर्मोदय।
  - (घ) बंध और उदय का अन्तर काल।
  - (ङ) आत्मा और कर्म का संबंध।
६. अस्तित्व सिद्धि के प्रकारों के संदर्भ में जीव-अजीव का अस्तित्व सिद्ध करो। १०
७. ‘जाति स्मृति’ ज्ञान क्या है? विवेचन कीजिए। १०

### अथवा

अतीन्द्रिय ज्ञान क्या है ? इस पर विवेचन कीजिए ।

८. प्राणी पर बाहरी निमित्तों के प्रभाव के विषय में जैन दृष्टिकोण क्या है ? इस पर निमित्तों के प्रकार बताकर अपने विचार प्रकट करें ।
९. प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान व कुल की संख्या का वर्णन करो ।
१०. कर्मों के उदय से क्या होता है ? प्रत्येक कर्म व उसके उदय से होने वाले प्रभाव का विस्तार सहित उल्लेख करो ।

### वर्ष १९९२-९३ के प्रश्न पत्र

१. विश्व स्थिति के मूल सूत्र (आधारभूत तथ्य) क्या हैं ?
२. जीव किन उदीर्ण या अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है और क्यों ?
३. बंध का हेतु कौन है और बंध कैसे होता है ?
४. जैन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप क्या है ? विस्तार से समझाइये ।
५. सजीव और निर्जीव पदार्थों का पृथक्करण किस प्रकार किया जा सकता है ?
६. जीव के कितने भेद हैं और उनका आधार क्या है ?
७. स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर के बीच क्या अन्तर है व उनका क्या प्रभाव है ?
८. 'क्रम विकासवाद' के मूल सूत्र क्या हैं ? आप इससे कितने सहमत-असहमत हैं ? व क्यों ?
९. "साधारण वनस्पति का जीवन संघ-बद्ध होता है"—इस पर लघु निबंध लिखिए ।



